ज्ञान-साधना

श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

श्री दक्षिणामूर्ति संस्कृत ग्रन्थ माला- २५

ज्ञान-साधना

अनन्तश्रीविभूषित आचार्य महामण्डलेश्वर
श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज

के

प्रवचन

स्थल :

बिड़ला मंदिर, नई दिल्ली
ता. ८.१०.१९९१ से १७.१०.१९९१ तक

ज्ञान-साधना

एक

विश्वम्पश्यति कार्यकारणतया स्वस्वामिसम्बन्धतः
शिष्याचार्यतया तथैव पितृपुत्राद्यात्मना भेदतः।
स्वप्ने जाग्रति वा य एष पुरुषो मायापरिभ्रामित-
स्तस्मै श्रीगुरुमूर्त्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये।।
नमाम्यभोगिपरिवारसम्पदं निरस्तभूतिमनुमार्धविग्रहम्।
अनुग्रमुन्मृदितकाललाञ्छनं विना विनायकमपूर्वशङ्करम्।।
उद्धृत्य वेदपयसः कमलामिवाब्धे-
रालिंगताखिलजगत्प्रभवैकमूर्तिम्।
विद्यामशेषजगतां सुखदामदाद्य-
स्तं शंकरं विमलभाष्यकृतं नमामि।।
यद्वाक्सूर्यांशुसम्पातप्रणष्टध्वान्तकल्मषः।
प्रणम्य तान् गुरून् वक्ष्ये ब्रह्मविद्याविनिश्चयम्।।
ॐ भद्रङ्कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रम्पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्योऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

मनुष्य जीवन की अपनी कुछ विशेषता है; बाकी सब प्राणियों की अपेक्षा मनुष्य में कुछ विलक्षणता है। अन्य विशेषतायें छोड़ भी दें, मनुष्य का शरीर भी अन्य जीवों से विलक्षण है। सभी प्राणी पदार्थों को सामने से देख सकते हैं क्योंकि उनके हाथों का निर्माण इस प्रकार का हुआ है कि वे पदार्थों को पकड़कर सम्मुख ही रख सकते हैं। जिस प्रकार मानव शरीर में अंगूठा अंगुलियों

के सामने आ सकता है, उस प्रकार की संरचना अन्य जन्तुओं के हाथों की नहीं है। जीववैज्ञानिक इस प्रकार के अंगूठे को opposable thumb कहते हैं अर्थात् ऐसा अंगूठा जिसके विरुद्ध— उसके सम्मुख—अंगुलियाँ आ सकती हैं। बात बड़ी साधारण है पर इसके कारण मनुष्य में असाधारण विलक्षणता पनपी है। इसी अंगुष्ठसामर्थ्य से मनुष्य पदार्थों को पकड़कर, उन्हें उलट कर अपने सामने कर सकता है। पदार्थ का सर्वदिक् निरीक्षण करने के लिए उसे पदार्थ के चारों ओर घूमते नहीं रहना पड़ता, पदार्थ को उलट-पलट कर देख लेता है। हाथ की इस विशेषता से ही पदार्थों का जैसा निरीक्षण मानव कर पाता है वैसा अन्य जीव नहीं। इस तरह वैज्ञानिक उन्नति का बीज भी यही है कि यह पदार्थों का क्लिष्ट प्रयोग कर सकता है। अतिप्राचीन काल में, पत्थरयुग में पाषाणमय उपकरणों का, लौहयुगीन हथौड़ों का व आधुनिक अत्यन्त संश्लिष्ट यन्त्रों का प्रयोग अपनी इस असाधारणतावश ही मनुष्य कर पाता है।

जैसे मानवदेह में यह विलक्षणता है कि उसमें चीजों को पलट कर देखने की सामर्थ्य है वैसे ही इसके अन्तःकरण अर्थात् बुद्धि में भी ऐसी विलक्षणता है कि यह प्रत्येक ज्ञान का पुनः अन्वीक्षण कर सकता है— उसके बारे में पुनः-पुनः सोच सकता है। पशुओं और मनुष्यों के मानस और ऐन्द्रिय ज्ञान एक जैसे होते हैं, जैसे हम देखते, सुनते आदि हैं वैसे ही वे भी देखते, सुनते आदि हैं। अन्तर यह है कि हम देखी, सुनी आदि वस्तु के बारे में विचार कर सकते हैं। जो अनुभव हुआ है उसका पलट कर अन्वीक्षण कर सकते हैं। ज्ञान के बारे में विचार करने की यह सामर्थ्य हमें ऐसी शक्ति देती है जिससे हम अपने ज्ञानों पर विचार कर उन्हें आपस में संश्लिष्ट(synthesise) कर सकते हैं, और यही हमारी ज्ञानवृद्धि का कारण है।

इतना ही नहीं, मनुष्य न केवल बाह्य पदार्थों के ज्ञान का विचार कर पाता है वरन् वह स्वयम् अपने विषय में भी सोच सकता है। यद्यपि पशु-पक्षी भी 'मैं जान रहा हूँ' यह अनुभव कर लेते हैं तथापि जानने वाले 'मैं' के विषय में आगे विचार करने में वे असमर्थ हैं। जानने वाले को भी जानने की सामर्थ्य— यह मनुष्य की विशिष्ट विलक्षणता है। पदाथज्ञानों को पलट कर देखने की तरह स्वयं अपने आप को पलट कर देखना इसके ही लिए सम्भव है। मनुष्य जान सकता है कि 'जानने वाला मैं हूँ कौन ?' वस्तुतः यही इसकी मुख्य विलक्षणता

है और सनातनधर्म की समग्र विचारधारा का आधार भी यही है। आचार्य श्रीशङ्कर कहते हैं—

कोऽहं कथमिदं जातं को वै कर्त्ताऽस्य विद्यते।
उपादानं किमस्तीह विचारः सोऽयमीदृशः।।

मनुष्य यह विचार करने में समर्थ है—'मैं हूँ कौन? मेरा स्वरूप क्या है?' सामान्य प्रतीति—जो पशुओं को भी हो सकती है—'मैं शरीर हूँ' इतनी ही है। पर मनुष्य आगे विचार करता है। बचपन में मैं घुटनों के बल चलता था, जवानी में घोड़े-सा दौड़ता था और अब बुढ़ापे में थोड़ा भी चलता हूँ तो साँस फूल जाती है; यों शरीर परिवर्तित होता रहा पर मैं तो वही रहा, मुझमें कोई परिवर्तन नहीं। शरीर के परिवर्तित होने पर भी न बदलने वाला मैं कौन हूँ? यह है अपने विषय में विचार। ऐसे ही वह सोचने की शक्ति रखता है **'कथमिदं जातम्'** यह सारा संसार कैसे उत्पन्न होता है? इसकी सत्ता कैसे आती है? किस अधिष्ठान पर यह स्थित रहता है? पदार्थ निरन्तर बदलते रहते हैं, किन्तु सब परिवर्तित वस्तुओं में कुछ अनुस्यूत भी रहता है जो उन सब में विद्यमान है। उदाहरणार्थ, हम पाँच तोला सोना लेते हैं, उसका कड़ा बनाते हैं। कुछ समय में चाल (fashion) बदल जाती है तो कड़े को चूड़ी बनवा देते हैं। कुछ दिनों बाद उसे ही जंजीर बनवा लेते हैं। यहाँ कड़ा, चूड़ी आदि बदलने वाली चीजें हैं पर सब परिवर्तन होते हुए एक-सा बना रहने वाला है सोना। जैसे हमारा शरीर बदलता रहा पर हममें कुछ है जो बिना बदले बना रहा, वैसे ही यहाँ गहनों के परिवर्तन होने पर सोना निरन्तर बना रहा। वही इन गहनों का अधिष्ठान है। ऐसे संसार का अधिष्ठान क्या है ? आगे यह भी मनुष्य के चिन्तन का विषय बनता है कि संसार बनाने वाला कौन है **'को वै कर्ताऽस्य विद्यते'? 'वै'** विकल्पार्थक है। क्या विशिष्ट शक्ति वाला कोई जीव ही समग्र प्रपंच का निर्माण कर लेता है ? या जीवों से अतिरिक्त कोई ईश्वर है जो विश्व का निर्माता व इसका नियामक है ? किं च, उस विश्वकर्ता के पास जगद्रचना के लिए सामग्री क्या है **'उपादानं किमस्ति'** ? इस प्रकार जगत्कारण के विषय में, जागत्कर्ता के विषय में व स्वयम् अपने विषय में विचार करने की योग्यता मनुष्य में है। इन प्रश्नों की गुत्थी सुलझने पर इसका इस संसार में आना सफल होता है।

मनुष्य जीवन में आने का प्रधान उद्देश्य है स्वयम् अपने बारे में व संसार के परम कारण के बारे में सही-सही जानकारी पा लेना। इस विलक्षण ज्ञान की सामर्थ्य अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य की विशेषता है। अतः संस्कृत में ज्ञानशब्द का अर्थ ही किया है **'मोक्षे धीर्ज्ञानम्'**। मोक्ष को विषय करने वाली अथवा मोक्षरूप फल देने वाली बुद्धिवृत्ति ज्ञान है। इससे अतिरिक्त तकनीक और उसके विषय में आधारभूत तत्त्व बताने वाले शास्त्र विज्ञान कहे जाते हैं **'अन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः'**। जागतिक पदार्थों के नियमों को समझना और उन नियमों को व्यवहार में लाने का ढंग ढूंढना—सभी विज्ञान है।

मोक्ष किसे कहते हैं? **'पाशेभ्य आत्मनः पृथग्भावः'**—पाशों से स्वयं को अलग कर लेना मोक्ष है। लोक में भी हथकड़ी आदि पाशों से छूटना जेल से मुक्त होना कहा जाता है। जो पाश हमें संसार में बाँध कर रखते हैं उनसे छूट जाना—यही मोक्ष है। जिस तरह विज्ञान में एक भाग तकनीक है व दूसरा आधारभूत नियम हैं, उसी तरह ज्ञान में भी दो बुद्धियाँ हैं, मोक्षरूप फल देने वाली बुद्धि और यह सोचने वाली बुद्धि कि कैसे मुक्त हुआ जाये। इस प्रकार, संसार में हम जिन पाशों से बँधे हुए हैं उनसे छूटने के तरीके को ज्ञानसाधना कहते हैं। साधन का अर्थ है उपाय। एवं च ज्ञानलाभ का उपाय ज्ञानसाधना है।

वस्तुतस्तु **'मोक्षे धीः'** सामान्य व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञानशब्द का अर्थ है, क्योंकि परमार्थतः ज्ञान परमेश्वर का स्वरूप ही है। कृष्णयजुर्वेद की घोषणा है **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। सत्य, ज्ञान व अनन्त शब्दों द्वारा एकमात्र परब्रह्म परमात्मा को ही कहा जाता है। **'ज्ञानं ब्रह्म'**, ज्ञान कहो ब्रह्म कहो एक ही बात है। क्योंकि सभी ज्ञान ब्रह्म हैं इसलिये अद्वैतज्ञान भी ब्रह्म है। शंका होती है कि सभी ज्ञान ब्रह्म हैं तो क्या घड़े का ज्ञान भी ब्रह्म है ? समाधान स्पष्ट है, घड़े का ज्ञान भी ज्ञानरूप से ब्रह्म ही है। आचार्य श्रीहर्ष ने इसे ही **'धर्मितया प्रमितम्'** से व्यक्त किया है। दृष्टान्त के लिये, कहीं सीप में चाँदी का भ्रम होता है। वहाँ चाँदीरूप धारण किये हुए सीप दीख रही है। अतः दीख क्या रहा है? सीप ही, पर चाँदी के रूप में यही ठीक है कि चाँदी के रूप में प्रतीत होना झूठ है पर चाँदीरूप में प्रतीत होने वाली सीप को झूठी कहना सम्भव होने पर भी सीप झूठी नहीं है। इसी तरह घटरूप से प्रतीत होने वाला ज्ञान घटरूप से प्रतीत हो रहा है इसलिये चाहे गलत है पर प्रतीत होता हुआ जो ज्ञान है वह तो गलत

नहीं। ऐसे ही अन्तिम ज्ञान, चरम या अद्वैतज्ञान भी समझा जाना चाहिये; 'अद्वैत का ज्ञान' इसमें 'अद्वैत का' इतना अंश तभी तक है जब तक द्वैत है। परमार्थतः तो ज्ञानमात्र है। इसलिये यह ठीक है, सभी ज्ञान ज्ञानरूप से परमात्मा ही हैं, क्योंकि उसके बिना ज्ञान सम्भव ही नहीं, पर अद्वैतानुभव से अतिरिक्त ज्ञानों में ज्ञान का आनन्त्य प्रकट नहीं होता। आग में दो चीजें है—रोशनी और गर्मी। यदि लोहे का गोला तपायें तो वह चमकता भी है, जलाता भी है अतः वहाँ प्रकाश व ऊष्मा दोनों प्रकट हैं। लट्टू में (bulbs) जो तार चमकता है, वहाँ भी यही स्थिति है। पर यदि पानी गर्म करें तो वह जला तो देता है, चमकता कभी नहीं। इसमें कारण यही कह सकते हैं कि जल में आग की गर्मी ग्रहण करने की सामर्थ्य है, प्रकाश ग्रहण करने की नहीं। आग दो तरह की नहीं है; लोहे व पानी को गर्म करने वाली आग एक ही है, भेद है तो जल व लोहे की सामर्थ्य में; जल गर्मी ग्रहण करता है प्रकाश नहीं, जब कि लोह। गर्मी व प्रकाश दोनों ग्रहण कर लेता है। ठीक इसी तरह संसार के सब पदार्थों के ज्ञान में यद्यपि ज्ञान ज्ञानरूप से प्रतीत होता है तथापि सब सीमाओं को तोड़ कर अनन्त अर्थात् मुक्तरूप से कभी प्रकट नहीं होता। आत्मज्ञान में यह विलक्षणता है कि वह न केवल प्रकाश करता है वरन् तुम्हें सारे पाशों से छुड़ा देता है। श्रीहर्ष ने कहा है

'आपाततो यदिदमद्वयवादिनीना-
मद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात्।।'

पहले पहल जब देखते हैं— **'आपाततः'** अर्थात् विचार के पहले—तब लगता है कि श्रुतियों का तात्पर्य किसी अद्वैत ब्रह्म, अद्वैत ज्ञान को बतलाने में है। वे किसी व्यापक परब्रह्म को प्रतिपादित कर रही हैं। पर जब भली प्रकार से—**'निष्पीडितात्'**—विचार कर देखते हैं तब समझ आता है। कि वह परमात्मा केवल स्वप्रकाश चिन्मात्र है। क्योंकि हमने सब को सान्त, ससीम समझ रखा है इसलिये परमात्मा को भी वेसा न समझ लें इतने के लिये ही उसकी अनन्तता भी है। **'अहह'** ! प्रत्येक ज्ञानी का अतः स्वयं श्रीहर्ष का यह अनुभव है जो स्वयं एक आश्चर्य है। **'निर्वहते'**—यही साधना का रूप है। जो जिसका निर्वाह करता है वही उसके लिये साधन होता है। इसीलिये कोशकार ने माना है **'निष्ठा-**

निर्वहणे समे', निष्ठा और निर्वहण का एक ही अर्थ है। **'नियतं स्थानं निष्ठा'** भली प्रकार स्थित होना निष्ठा है। निश्चितरूप से स्थित हो जाने को ही निष्ठावान् होना कहते हैं। इसे ही—निश्चितरूप से स्थित होने को ही—साधन कहते हैं। श्री सुरेश्वराचार्य ने कहा है—

'अमानित्वादिनिष्ठो यो यश्चाद्वेष्ट्रादिसाधनः।
ज्ञानमुत्पद्यते तस्य न बहिर्मुखचेतसः'।।

अमानित्वादि साधन जिसमें हमेशा स्थित रहते हैं उसे ही ज्ञान होता है, अन्यथा बाह्य विषयों को ही सब कुछ समझने वाले बहिर्मुखी व्यक्ति को कभी नहीं होता। अमानितादि से युक्त होकर विचार करने पर ही तथ्य समझ आ सकता है, अन्यथा नहीं। शास्त्रकारों ने साधन का स्वरूप बताते हुए कहा है—

'साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्याकृत्तं च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये।।'

'अन्वयेन घटितम्' जो अपने साध्य से निश्चित सम्बन्ध वाला हो, अतएव जहाँ साध्य निश्चित हो वहाँ—सपक्ष में—स्थित हो तथा जहाँ साध्य का न होना निश्चित हो वहाँ—विपक्ष में—न रहे, वह जहाँ रहता है वहाँ—पक्ष में—अपने साध्य को सिद्ध करता है अतः साधन कहा जाता है। उदाहरणार्थ कभी पहाड़ पर धुआँ दीखता है तो क्योंकि उसका आग से कार्यकारणरूप निश्चित सम्बन्ध है, सपक्ष चूल्हे आदि में धुआँ मिलता है, विपक्ष तालाब आदि में कभी नहीं रहता, इसलिये अनुमान होता है कि पहाड़ पर आग है। यहाँ धुआँ साधन है, आग साध्य है, पहाड़ पक्ष है। जहाँ धुआँ होगा वहाँ आग अवश्य होगी व जहाँ आग नहीं होगी वहाँ धुआँ भी नहीं होगा—यह नियत होने से ही आग के ज्ञान के लिये धुआँ साधन बनता है। इसी प्रकार जिन साधनों के होने पर ज्ञान होगा और ज्ञान न होने पर जिन साधनों की कमी निश्चित होगी वे ही ज्ञान के साधन कहे जायेंगे। इन साधनों को जब अपने जीवन में लाओगे तब हो जायेगी साधना। साधन बताये जा सकते हैं पर साधना करनी ही पड़ती है। क्योंकि जाने बिना साधनानुष्ठान किया नहीं जा सकता इसलिये मोक्ष पाने के लिये साधना की जाये—इस प्रयोजन से साधनों का निरूपण करेंगे।

भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने श्रीमद्भगवद्गीता के प्रथम छह अध्यायों में कर्म व जीव का स्वरूप बताया है व मध्य के छह अध्यायों में उपासना तथा जिसकी

उपासना करनी है उस ईश्वर का स्वरूप बताया है। तेरहवें अध्याय से बताया—ज्ञान कैसे हो? इसी अध्याय में ज्ञान के समग्र साधन गिना भी दिये हैं। इनकी संख्या बीस है। जहाँ ये साधन होंगे वहाँ ज्ञान होगा, जहाँ नहीं होंगे वहाँ ज्ञान नहीं होगा। जैसे जहाँ धुआँ होगा वहाँ आग होगी, जहाँ आग नहीं होगी वहाँ धुआँ भी होगा नहीं, ऐसे ही जहाँ ये साधन होंगे वहाँ ज्ञान होगा और यदि ज्ञान नहीं है तो साधन भी पूर्णतः प्रकट नहीं होंगे। भगवान् ने साधनोपदेश इस प्रकार प्रारम्भ किया है—

'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।'

सर्वप्रथम साधन है अमानित्व—मान का परित्याग। मान का स्वरूप क्या है? **'मत्समो नास्तीति मननं मानः'**— मेरे समान कोई नहीं यह मानना ही मान है। संसार में दो बुद्धियाँ हैं, उनमें डेढ़ मेरे पास है और आधी संसार के चार अरब लोगों में बँटी है— यह मान का स्वरूप है। निरंतर मन में यह बसा होना—मनन होना—कि मेरे जैसा कोई नहीं, यह मान है। यदि परमात्मा का ज्ञान पाना चाहते हैं तो इसे छोड़ना होगा। वेद कहता है कि एक परमेश्वर ही ऐसा है जिसके समान कोई नहीं—**'न तत्समः'**। बात बड़ी कड़वी है। न जाने कितनी बार हम परमात्मा की गलतियों का अनुभव करते रहते हैं। कोई जवान लड़का मरता है तो कहते हैं 'भगवान् को कुछ तो सोचना चाहिये'; युवती विधवा होती है तो कहते हैं 'भगवान् को इतना भी ख्याल नहीं'; गरीबों को कष्ट पाता देखते हैं तो 'भगवान् की दया कब काम आयेगी !' निरन्तर हमारी प्रवृत्ति हैं भगवान् को सिखाने समझाने की। अतः यह एक बहुत कड़वी दवा लगती है **'न तत्समः'**। पर इस दवा को खाने पर ही संसारपाश से छुटकारा संभव है।

ऐसा मान हममें है क्यों? कारण है कि हमने इसे अच्छा समझ रखा है। शिशुपालवध में माघ कहते हैं **'परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम्'** मानियों का मन ऐसा होता है कि वे दूसरे की वृद्धि देखते ही मात्सर्य वाले हो जाते हैं। 'उसमें यह श्रेष्ठता क्यों?' यह स्वभावतः भाव उठता है। किसी के सामने किसी अन्य के पुत्र की प्रशंसा करो तो सामने वाला तुरन्त अपने पुत्र के गुण बखान देता है। दूसरे का उत्कर्ष देखने पर मात्सर्य आ जाता है। यही मानियों का लक्षण है। इससे विपरीत जिसमें अमानिता होगी वह दूसरों की वृद्धि से हमेशा प्रसन्न होगा।

कन्नौज—कान्यकुब्ज देश— में माधव नामक एक धर्मात्मा विद्वान् ब्राह्मण रहता था। विद्वत्ता और धार्मिकता का मेल प्रायः नहीं मिलता। विद्वान् अपने अधर्म को छिपाने के लिये युक्तिवादों का जाल बिछाता रहता है। वह सोचता है 'मैं अन्यों को इसमें फँसा रहा हूँ', जब कि सचमुच वह खुद ही फँसता जाता है। जिसके पास वैदुष्य नहीं, युक्तिवाद का जाल नहीं, वह अधर्म से भय खाता है, उससे बचता है। विद्वान् तो शायद सोचते हैं कि वे यमराज को भी तर्क से परास्त कर स्वर्ग चले जायेंगे; जिसे कहते हैं ' I will talk my way through !' किन्तु माधव में यह दुर्लभ संयोग था, वह विद्वान् भी था धर्मात्मा भी। अतः उसे पर्याप्त धन व अच्छी सन्तति प्राप्त हुई। जब उसकी पत्नी की मृत्यु हुई तो माधव के मन में वैराग्य का उन्मेष हुआ। उसने सोचा 'जो करना था वह कर लिया, अब परमेश्वर की ओर ही लगना चाहिये।' सारा कामकाज बच्चों को सँभलवाकर वह समुद्रतट पर एकान्त में रहते हुए निरन्तर उपनिषद्विचार में तत्पर हुआ। परमात्मा को श्रुति औपनिषद पुरुष कहती है। उपनिषदों से ही उसका पूर्ण ज्ञान हो सकता है क्योंकि वहीं उसका पूरा विवेचन है। पुराणादि में उपनिषदों के आधार पर ही वर्णन है। विद्वान् तो वे थे ही, उपनिषदों के ही विचार में लगे। इतनी तत्परता थी कि भोजन करने के लिये भी कोई प्रवृत्ति नहीं करते थे। अतः भगवान् ने स्वयम् उनके लिये व्यवस्था करना निश्चित किया। मन्दिर में नैवेद्य अर्पित किया जाता ही था। वही पक्वान्न भरा सोने का थाल भगवान् ने ले जाकर माधव को दिया। उन्होंने भोजन किया और थाल के वैशिष्ट्यादि की ओर कोई ध्यान दिये बिना उसे एक ओर रख दिया। पुजारी जब पुनः मन्दिर में गये तो देखा थाल गायब है। तुरन्त आरक्षी बल (पुलिस) को सूचित किया गया। सब ओर खोज हुई तो माधव के पास थाल मिला क्योंकि उसे छिपाकर तो रखा था नहीं। रंगे हाथ चोर पकड़ा गया होने से उन्हें कोड़े पड़ने लगे। वे प्रेम से हँसते रहे। सोचने लगे 'जब परमेश्वर ने भोजन का प्रसाद भेजा और मैंने ग्रहण किया तो कोड़ों के प्रसाद को मना करने वाला मैं कौन हूँ?' उन्होंने प्रतिवाद नहीं किया, यह नहीं कहा 'मैंने चोरी नहीं की।' यह भीतरी दृढता है।

इसका फल होना ही था। उस रात सभी पण्डों को एक समान सपना हुआ। भगवान् ने सबको बताया 'तुम लोगों ने बहुत बड़ा अपराध किया है। मैंने स्वयं

माधव को भोजन दिया था। तुम क्षमा-याचना करो, नहीं तो तुम्हारा सत्यानाश होगा।' प्रातः सबने परस्पर बात की तो पाया कि सभी को वही स्वप्न हुआ था। अतः सबको निश्चय हुआ कि वह अवश्य सत्य है, मन की कल्पना नहीं। सत्य-असत्य का भेद लोग यही करते हैं। यदि पचास को दीखे तो सत्य मानते हैं और एक को दीखे बाकी को न दीखे तो असत्य मानते हैं। दीखता जैसे रस्सी में साँप है वैसे ही रस्सी दीखती है, दीखने में फर्क नहीं। पर मनुष्य में विचार की सामर्थ्य है अतः जब रोशनी आने पर वह रस्सी देखता है और साँप को वहाँ से भागता इत्यादि नहीं देखता तब अपने सर्पज्ञान पर विचार करता है और सही रोशनी आदि में हुए रस्सीज्ञान से कम रोशनी आदि में हुए सर्पज्ञान का मेल न होने से वह सर्पज्ञान को झूठा समझ लेता है, सर्प का बाध कर लेता है। रस्सी सबको एक सी दीखती है अतः वह सच्ची मानी जाती है। ऐसे ही भगवान् की डाँट सबको एक सी प्रतीत हुई थी अतः सबने उसे सच माना। जाकर सभी पण्डों ने माधव से क्षमा माँगी। माधव में मानिता तो थी नहीं, तुरन्त कहा 'तुम लोगों की कोई गलती ही नहीं है।' पण्डों को उस पर श्रद्धा तो हो ही चुकी थी, वे प्रतिदिन उसे तरह-तरह के पक्वान्न खिलाने लगे। अधिक खाने से माधव को अतिसार हो गया। बड़ा कष्ट हुआ, उठना-बैठना भी मुश्किल हो गया। कोई एक अज्ञात व्यक्ति उनके पास नित्य आने लगा और उनकी हर तरह से सेवा करने लगा। माधव के मन में आया 'यह कौन है?' ध्यान कर देखो तो चौंक गये, 'अरे ! ये तो भगवान् हैं !' उनसे बोले, 'हे भगवन् ! यह क्या किया? मुझ जैसे निर्गुण के लिये आपका आना ठीक नहीं, और यदि मुझे ठीक ही करना था तो आप सर्वशक्ति हैं, सङ्कल्पमात्र से मुझे ठीक कर देते, यों सेवक बनकर क्यों आये?' भगवान् ने उत्तर दिया 'यह ठीक है कि मैं सर्वशक्ति हूँ पर यह भी तो मेरा बनाया अटल नियम है कि प्रारब्ध भोगना पड़ता है। हाँ, मेरे रहते मेरा भक्त इतना कष्ट पाये यह भी मेरे लिये सह्य नहीं, इसलिये सेवा करने आ जाता हूँ। सेवा करते हुए प्रारब्ध भोग भुगवा देता हूँ। **'योऽसौ विश्वंभरो देवो कथं भक्तानुपेक्षते'** जो मैं सब प्राणियों की जीवनयात्रा की व्यवस्था करता हूँ वह मैं भक्तों की उपेक्षा कैसे कर सकता हूँ? भक्त की विशेष देख-रेख और प्रारब्ध भोग-दोनों मेरे ही नियम हैं।'

धीरे-धीरे माधव की ख्याति बहुत बढ़ गयी। एक बार एक पण्डित आये और माधव को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। माधव ने कहा 'शास्त्रार्थ से तुम

यही न चाहते हो कि तुम जीतो, मैं हारूँ? तो मैं पहले ही लिखकर दे देता हूँ कि मैं हारा, तुम जीते। शास्त्रार्थ के क्लेश से क्या लाभ?' ऐसा ही किया गया। वे पंडित उस लिखे कागज को लेकर राजसभा में पहुँचे और अपने अलौकिक पाण्डित्य का ढिंढोरा पीटने लगे। भगवल्लीला बड़ी विचित्र होती है। जब राजा ने वह कागज देखा तो उस पर लिखा था 'पण्डित जी हारे, मैं — माधव — जीता !' जब उन पंडित को वह दिखाया तो लज्जित और अत्यधिक क्रुद्ध हुए। माधव के पास गये, बोले 'तुमने धोखा क्यों दिया?' माधव ने जवाब दिया 'मैंने तो ठीक ही लिखा था, पता नहीं क्या हुआ। चलो, दूसरा कागज लिखे देता हूँ।' वे दूसरा कागज ढूँढने गये। इतने में भगवान् ने विद्वान् का रूप धरण किया और शास्त्रार्थी के संमुख उपस्थित होकर शास्त्रार्थ के लिए प्रस्तुत हो गये। शर्त थी—जो हारेगा उसका मुँह काला कर उसे गधे पर बैठाकर गाँव में घुमाया जायेगा। शास्त्रार्थी पंडित को तो हारना ही था। शर्त पूरी करायी जाने लगी। तब तक माधव कागज लेकर लौटे तो वहाँ पंडित न देखकर पूछताछ करने लगे। किसी ने बताया कि उन्हें तो किसी विद्वान् ने परास्त कर दिया और शर्त के अनुसार वे गाँव में गधे पर घूम रहे हैं। माधव तुरंत वहाँ पहुँचे। शास्त्रार्थी पण्डित के पाँव पकड़कर माफी माँगने लगे 'मेरे कारण आपको ऐसा कष्ट भोगना पड़ा इसके लिये मुझे क्षमा करें। यद्यपि मैंने आपको दुःख नहीं दिया तथापि मेरे कारण भगवान् ने आपसे ऐसा किया अतः निमित्त तो मैं ही बना। मैं नहीं चाहता मेरे निमित्त से किसी को कष्ट हो। मुझे क्षमा करें।' ऐसी अमानिता की परिपक्वता देखकर भगवान् माधव से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए और उनकी ज्ञानस्थिति को पुष्ट कर दिया। माधव समग्र पाशों से छूट गये, मुक्त हो गये।

अमानिता का अभिप्राय है किसी भी परिस्थिति में मान का भाव न आना, मुझ में कोई वैशिष्ट्य है यह भाव न आना। सारा वैशिष्ट्य परमात्मा का है। वे यदि मेरी सेवा करते हैं तो भी मुझ में कोई विशेषता नहीं, यदि कोड़ा मारते हैं, स्वर्ण की थाली में भोजन कराते हैं या शास्त्रार्थ में विजयी बनाते हैं तो भी मुझ में कोई महत्ता नहीं है। जब सब हालतों में मान नहीं होता तभी ज्ञान-साधना दृढ होती है। इसी से भगवान् ने सर्वप्रथम अमानित्व को साधन बताया। 'मुझ जैसा कोई नहीं' यह भाव मन से हटाना है। कैसे? यह निश्चय दृढ करके कि वह तो परमेश्वर है जिस जैसा कोई और नहीं है। कोई विशेषता स्वयं में न मानना, दूसरे की उन्नति के प्रति मात्सर्य न रखकर उससे प्रसन्न ही होना— इस स्वरूप वाला अमानित्व जिसमें होगा उसी का ज्ञान दृढ होगा।

दो

कल विचार किया था कि मनुष्य की विशेषता है कि वह पलट कर जान सकता है, विषय ही नहीं आश्रय का ज्ञान भी पा सकता है। स्वयं अपने को जानना—यही मानवजीवन में आने का प्रधान उद्देश्य है। इसी से पाशों से छुटकारा मिलता है, मोक्ष प्राप्त होता है। किंतु ज्ञान, जो मनुष्य की विलक्षणता है, वह स्वयं भी विलक्षण ही है क्योंकि वस्तुतः वह परमेश्वर का ही स्वरूप है और प्रतीत होता है देश-काल-वस्तु से परिच्छिन्न, सीमित। प्रश्न होता है कि जब अनुभव में हमें इसी प्रकार का ज्ञान आता है तब ज्ञान परमात्मा का स्वरूप है यह केसे समझें? यही बात सुख, सत्य आदि सभी के विषय में है। हमें अनुभूत सुख तथा सत्य सभी सापेक्ष हैं जब कि शास्त्र उन्हें निरपेक्ष परमात्मा का स्वरूप बताता है। सर्वज्ञात्म-महामुनि ने इस समस्या का समाधान विस्तार से बताया है। वे कहते हैं यह ठीक है कि हमारे अनुभव में आने वाली वस्तुओं की सत्यता एक प्रकार की है—सापेक्ष है, व्यावहारिक है। यह भी ठीक है कि परमात्मा का स्वरूप जो सत्य कहा गया है वह अन्य ही प्रकार का है, निरपेक्ष है पारमार्थिक है। अब सत्य शब्द का अर्थ क्या है? वे कहते हैं कि दोनों सत्यों का मिला-जुला रूप ही सत्य शब्द का अर्थ मानना होगा। हम सत्य कहते हुए मानते तो हैं कि वह परिवर्तनीय नहीं, पर जिन वस्तुओं को हम सत्य कहते हैं, हैं वे सब परिवर्तनशील, अतः हम जानते यह हैं कि परिवर्तनशील वस्तुएँ सत्य होती हैं इसलिये सत्य शब्द के दोनों अभिप्राय समझने होंगे— एक वह जो हमें मिलता है और दूसरा वह जिसे हम केवल सोच पाते हैं। इनमें परिवर्तनशील सत्य— इतना अर्थ छोड़कर जो नित्य सत्य है वह परमात्मरूप है यह समझा जा सकता है। ऐसे ही सुख के बारे में समझ लेना।

स्वर्ग सुखरूप है। पर सुख कैसा? जिसके आगे पीछे व बीच में दुःख नहीं। लेकिन ऐसा सुख कहीं लोक में मिलता नहीं। तो सुख से स्वर्ग-सुख कैसे समझें? विचित्रता तो यह है कि दुःख हमें सुख समझने की सामर्थ्य देता है ! कैसे? तो देखो—हम सब साँस लेते रहते हैं। वायु है, हवा है तभी न। वह वायु भगवान्

ने मुफ्त में दे रखी है। भगवान् न करे ! यदि कभी तुम्हारे पाप उदय होंगे तो जापान जैसे देश में पहुँच जाओगे। जो वायु हमें यहाँ मुफ्त मिल रही है उसे लेने के लिये वहाँ जगह-जगह पम्प लगे हैं—जैसे पेट्रोल के लिये पम्प होते हैं उसी तरह—जिनसे शुद्ध हवा दाम देकर मिल जाती है। खुले आम शुद्ध हवा मिलती नहीं है। महँगाई की वृद्धि देखते हुए विचार करो क्या आज से सौ साल बाद गरीब आदमी शुद्ध वायु खरीद पायेगा? एक व्यक्ति अपना कुवैत का अनुभव बता रहे थे कि वहाँ शुद्ध वायु लेने के लिये गणेश जी बनकर घूमना पड़ता है, उन्हीं की तरह एक सूँड मुँह पर लगा कर साँस लेना पड़ता है। हमें क्योंकि वायु के न होने का अनुभव नहीं होता इसीलिये वायु की स्थिति के प्रति हम उपेक्षाभाव रखते हैं। इसी तरह यदि सूर्यप्रकाश उपलब्ध होता रहे तो उसकी कीमत का पता नहीं चले। क्योंकि अन्धकार आता रहता है इसीलिये हमें प्रकाश का मूल्य मालूम पड़ जाता है। शास्त्रों में बताया है कि मनुष्यजीवन देवजीवन से भी ज्यादा दुर्लभ है। शंका होती है कि मनुष्य ज्योतिष्टोमादि बड़े-बड़े यज्ञादि कर देवलोक जाना चाहते हैं और शास्त्र मनुष्यजीवन को उससे अधिक दुर्लभ कहता है तो इसमें क्या विशेषता है? विशेषता यही है कि स्वर्गलोक में दुःख नहीं होता और हमें दुःख होता है। मनुष्यलोक में सुख-दुःख दोनों होते हैं इससे हमें सुख का पता चलता है। देवलोक में सुख ही सुख होने से दुःख के अभाव में वहाँ वालों के लिये सुख का स्वरूप छिपा हुआ है।

ठीक इसी प्रकार **'प्रत्यग्बोधे ज्ञानता काचिदन्या'**—परमात्मा के स्वरूपभूत ज्ञान में कभी अज्ञान का नामोनिशान नहीं, वह ज्ञानघन है। पर ज्ञानस्वरूप होने पर भी उसका ज्ञान स्फुट नहीं है क्योंकि अज्ञान नहीं है। बुद्धि के ज्ञान की यह विलक्षणता है कि वह स्वयं अज्ञानरूप है, जड है, पांचभौतिक है; जब इसमें ज्ञान का प्रकाश पड़ता है तब यह ज्ञान को समझती है व जब प्रकाश नहीं पड़ता तब अज्ञानस्वरूप ही बनी रहती है। इसलिये इसमें उस आत्मा का ज्ञान स्फुट हो जाता है, प्रकट हो जाता है। यह बात अलग है कि अभी तक हमारी बुद्धि घड़े कपड़े आदि परिमित चीजों को जानती है और जब हमारी वृत्ति ब्रह्माकार बनेगी, परमात्माकार वृत्ति बनेगी, तब हमें परमात्मा का स्फुट ज्ञान होगा। बिना वृत्ति के ज्ञान की स्फुटता होती नहीं यद्यपि आत्मा नित्य ज्ञानस्वरूप है। अतः ज्ञानसाधना का व्यवहारदृष्टि से अर्थ है— **'ज्ञानस्य वृत्तेः निष्पादनम्'**, वृत्तिज्ञान को निष्पन्न करना है। मोक्षस्वरूप स्वयं परमात्मा है पर

नित्य ज्ञान साध्य नहीं, उसे साध्य केवल उपचार से कहते हैं। ब्रह्माकार वृत्ति ही वह ज्ञान है जिसे निष्पन्न करना है। वह जिन साधनों द्वारा उपलब्ध हो उनका प्रतिपादन करना है, उस साधना को करना है। एक हुआ नित्य ज्ञान और एक हुआ प्रकट होने और न होने वाला बुद्धिवृत्ति का ज्ञान। लोक में प्रसिद्ध जो ज्ञान है उसके लिये कहा **'तत्सम्पर्काज्ज्ञानता तत्र चान्या'**। हम जब ज्ञानता कहते हैं तब बुद्धि वृत्ति के होने पर प्रत्यगात्मा ज्ञाता बन जाता है और सामने का पदार्थ ज्ञेय बन जाता है। बुद्धिवृत्ति जब आत्मा के सामने आयी तब आत्मा जानने वाला बन गया और बुद्धिवृत्ति जब घड़ा कपड़ा आदि विषय के सामने पहुँची तब वह विषय ज्ञेय बन गया। इस ज्ञाता-ज्ञेय भाव को लेकर लोक में ज्ञान शब्द निष्पन्न होता है **'व्युत्पन्नोऽयं ज्ञानशब्दस्तु तत्र।'** ब्रह्माकार वृत्ति के ज्ञान में भी कहा जा सकता है 'मैं जीवभाव वाला जो वह जानूँगा और ब्रह्मभाव वाला जो परमात्मा उसे जानूंगा।' परन्तु क्योंकि जानने वाला और जिसे जाना जा रहा है दोनों चेतनरूप हैं इसलिये अखण्डबोध होगा, यह बात दूसरी है। कोई कह सकता है कि यदि मन द्वारा जानेंगे तो मन की छाप वाले परमात्मा को जानेंगे अतः जिसका जैसा संस्कार होगा वैसा वह जानेगा। किन्तु बात ठीक नहीं। मन से जानेंगे पर जिसे जानेंगे वह अद्वितीय आत्मा है।

ऐसे समझ लो— काँच के भाँड में घी रखा हुआ है। जो घी तुम्हें दीख रहा है वह काँच के द्वारा दीख रहा है, पर यदि वह काँच बिल्कुल साफ है तो घी जैसा है वैसा ही तुम्हें भान होता है। यदि काँच रंगीन है तब तो जैसा घी है वैसा ज्ञान नहीं होगा, पर साफ काँच हो तो काँच के माध्यम से होने पर भी ज्ञान वैसा ही है जैसा घी है। ऐसे ही, जिस मन से तुम्हें परमात्मा का ज्ञान हो रहा है यदि वह मन सर्वथा दोषरहित है तो मन के—वृत्ति के— माध्यम से होने पर भी जैसा परमात्मा है वैसा ही ज्ञान होगा। बिना मन के ज्ञान नहीं हो रहा तो शुद्ध का ज्ञान नहीं है — यह संदेह नहीं रखना चाहिये। उस स्तर पर पहुँचकर संदेह हो जाता है कि क्या वह परमात्मा वैसा ही अद्वितीय है जैसा मुझे ज्ञान हुआ या केवल मेरे मन के कारण वैसा ज्ञान हुआ। तार्किकशिरोमणि आचार्य श्रीहर्ष सावधान करते हैं **'सेयतमद्वैतबुद्धिः न तर्कशतमवतार्य प्राज्ञैरपनेया।'** यह जो अद्वैत का ज्ञान ब्रह्माकार वृत्ति में होता है उसके विषय में सैकड़ों तर्क उठाकर बुद्धिमानों को उसे हटाना नहीं चाहिये। तर्क जैसे— मन के कारण हो गया, पैदा होने वाला हो गया, संस्कारवश हुआ इत्यादि।

गौडपादाचार्य भी कहते हैं **'समप्राप्तं न चालयेत्'**। जिस समय जीव और ब्रह्म की एकता को, समभाव को प्राप्त कर लिया जाये उस समय वहाँ से मन को हिलाया न जाये स्वयं भगवती श्रुति भी कहती है **'नैषा तर्केण मतिरापनेया'**। यह जो परमज्ञान मनुष्य को मुक्त करने वाला है वह केवल तर्क के बल से हटाने के योग्य नहीं है। श्रीहर्ष सावधान करते हैं कि यदि इतनी साधना से प्राप्त ज्ञान में तर्क लगाओगे तो बड़ी हानि ही होगी-

'धीधना वाधनायास्यास्तदा प्रज्ञां प्रयच्छथ।
क्षेप्तुं चिन्तामणिंपाणिलब्धमब्धौ यदीच्छथ'।।

मान लो किसी आदमी ने बड़ा प्रयत्न करं चिन्तामणि रत्न प्राप्त कर लिया चिन्तामणि ऐसा मणि है जिससे जो चाहो प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा चिन्तामणि बड़ी साधना से मिल गया, हाथ में आ गया अब, समुद्र कितना गहरा है यह जानने के लिये उस चिन्तामणि को समुद्र में फेंकना चाहो तो यह मूर्खता ही है। यदि तुम इतने बड़े मूर्ख हो तभी इस दुर्लभ ज्ञान को तर्क के समुद्र में फेंक कर उसे खोने की तैयारी करे । सम्बोधन किया 'धीधनाः !' अरे ! तुम्हारे अन्दर बुद्धि है, उसका प्रयोग अपने कल्याण के लिये करो, अपना नाश करने के लिये नहीं। यह ठीक है कि ज्ञान मन द्वारा होता है पर जिसका ज्ञान होता है वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है। जिस ज्ञान को हम जानते हैं उसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद है पर यहाँ वह भेद बाधित हो जाता है। यह ज्ञान ही जीव का कल्याण करने वाला है। ऐसे उस अन्तःकरण को, मन को तैयार करना जिससे वह ज्ञान होवे, यही साधना है। कल पहला साधन अमानित्व बताया था।

अगला साधन है अदम्भित्व। दम्भ का मतलब होता है नुकसान करना -**'दभ्नोति हिनस्तीति दम्भः।' 'दभ दम्भ हिंसायाम्'** धातु है। मनुष्य सोचता है दम्भ द्वारा हम दूसरे का नुकसान करेंगे परन्तु सचमुच में वह उससे अपना ही नुकसान करता है। दम्भ अर्थात् कपट। **'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भः'** – यह अमरकोष है। कपट करने वाला सोचता है कि कपट से वह अपना लाभ कर रहा है जबकि करता वह अपना नुकसान ही है। ब्याह शादी में अपनी सामर्थ्य से अधिक धन का अपव्यय दम्भ के कारण ही करते हैं। 'लोग समझें हमारे पास बहुत धन है'—यह कपट का ही भव है। ऐसे गहने लोग खरीदते हैं जो दो साल के बाद निर्मूल्य रह जाते हैं – अमेरिकन ज्वेलरी; क्यों? केवल दम्भवश।

'अमेरिकन ज्वेलरी' नाम ठीक ही है। वे सबसे बड़े कपटी हैं। उनकी सारी संस्कृति सिवाय कपट के कुछ नहीं है। जैसे वेश के विषय में वैसे ही भाषा के विषय में। जो अंग्रेजी का एक शुद्ध वाक्य नहीं जानता वह भी बीच-बीच में एक दो अंग्रेजी के शब्द बोल देता है ताकि लोग समझें कि मैं भी अंग्रेजी जानता हूँ। ऐसे ही किसी को एक ही श्लोक याद होता है–**'त्वमेव माता च पिता त्वमेव'**, तो वह जहाँ कहीं भी मौका लगे उसका बड़े जोर से पाठ करता है कि लोग जानें 'ये भी जानकार हैं।' भाषा द्वारा भी दम्भ प्रकट किया जाता है। क्रिया द्वारा भी दम्भ प्रकट किया जाता है। दिल्ली में कहीं संगीत के कार्यक्रम में बीस हजार लोग पहुँचते हैं जिनमें पन्द्रह हजार ऐसे होते हैं जो पड़ोसी का सिर हिलता देखकर खुद सिर हिलाते हैं ! संगीत का ज्ञान इतना ही है। ऐसे ही वेदपाठ में जब विद्वान् ब्राह्मण हाथ से स्वर दिखाते हैं तब वहाँ उपस्थित गैर जानकार ब्राह्मण भी हाथ हिलाने लगते हैं यह बतलाने के लिये कि मुझे भी स्वर आता है। कुल से भी दम्भ प्रकट होता है। कोई व्यक्ति यदि मन्त्रिपद पर पहुँच गया तो हर व्यक्ति कहने लगता है 'वह हमारे भी रिश्ते में लगता है।' यदि रिश्ता पूछो तो कोई लम्बा-सा सम्बन्ध बता देगा। इसी प्रकार मंत्र तंत्र आदि का दंभ है। किसी को **'ॐ नमः शिवाय'** मंत्र का उपदेश दो तो कहता है 'महाराज कोई खास मंत्र बतलाओ। ऐसा मंत्र होना चाहिये जो दूसरा न जानता हो।' ऐसे ही तंत्रादि में। यज्ञादि में अनेक क्रियाकलाप केवल यह दिखलाने के लिये किये जाते हैं कि हम रहस्यवेत्ता हैं। उन क्रिया-कलापों का शास्त्र में कोई विधान नहीं। गीता में ही भगवान् ने कहा है-

'अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तद्यज्ञं विद्धि राजसम्'।।

दम्भार्थमपि। भाव यह है कि लोग समझें 'ऐसा और किसी ने नहीं किया'। दम्भभाव ही कपटभाव है। जब तक मनसे कपट निकल नहीं जाता तब तक मनुष्य परमात्मा का ज्ञान करने में असमर्थ रहता है।

दक्षिण भारत में देवगिरि नाम का पहाड़ है, औरंगाबाद के पास। वहाँ भारद्वाज गोत्र के सुधर्मा नामक एक ब्राह्मण रहते थे। उनकी पत्नी थी सुदेहा। दोनों भगवान् शंकर के भक्त थे। त्रिकाल संध्या, अग्निहोत्र आदि करते हुए सुधर्मा बड़े नियम से रहते थे और विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। सुदेहा भी घर

का काम बड़ी कुशलता से करने वाली पतिव्रता स्त्री थी। दम्पति धनवान् होने के साथ दानशील भी थे। काफी समय बीतने पर भी उन्हें संतति प्राप्त नहीं हुई। सुधर्मा जानता था कि मनुष्य अपना उद्धार स्वतः करता है। कोई दूसरा किसी का उद्धार नहीं करता। परन्तु सुदेहा के मन में आता था 'अरे ! हमारा पुत्र होता तो हमारा उद्धार करता।' वह जब पति से यह कहे तब सुधर्मा जवाब दे 'ऐसा विचार मत कर। जो भगवान् की इच्छा होती है वही ठीक होता है !'

एक बार सुदेहा अपनी सखियों के घर गयी हुई थी। बात-चीत में दूसरी औरतों ने उसे कहा 'क्या बढ़-बढ़कर बात करती है, तू तो बाँझ है। हमारी संपत्ति तो हमारे बहू-बेटे भोगेंगे। तुम्हारी सम्पत्ति बेकार जायेगी, राजा ले जायेगा। धिक्कार है तुझे ! बिना संतति के तेरा क्या जीवन है !' सुदेहा को बात बहुत चुभी। घर आकर पति के सामने उसने जिद्द पकड़ ली कि कोई उपाय करो जिससे बच्चा हो जाये। सुधर्मा ने जब उसका हठ देखा तो दो फूल उन्होंने भगवान् शंकर के पास यह चिन्तन कर रख दिये कि अमुक फूल उठे तो संतति हो, दूसरा उठे तो न हो। फिर पत्नी से कहा 'तू इनमें से एक फूल उठा ले !' उसने वह फूल उठाया जिसके उठनें से संतति न होना सुधर्मा ने सोचा था। ब्राह्मण ने पत्नी से कह दिया कि पुत्र नहीं होना है इसलिये हठ छोड़ दो।' सुदेहा कहने लगी 'यदि मुझसे पुत्र नहीं होता है तो तुम दूसरा विवाह कर लो, उससे तो पुत्र हो जायेगा।' सुधर्मा ने मना किया 'सौत का दुःख सबसे बड़ा होता है। तू उसे सहन कर नहीं सकती। अतः यह जिद्द मत कर।' परन्तु उसमें तो दम्भ पूरी तरह छाया हुआ था—'मैं ऐसा त्याग कर दिखाऊँगी कि सौत के साथ कैसे निभ सकती है।'

सुधर्मा ने तो बात की उपेक्षा कर दी। सुदेहा स्वयं ही अपनी छोटी बहन को ले आयी और पति से बोली 'इससे तो मेरा झगड़ा नहीं होगा। इससे आप विवाह करें।' उस कन्या का नाम था घुष्मा। ब्राह्मण ने मना भी किया पर सुदेहा तो हठ कर बैठी थी। उसे मानना पड़ा। विवाह हो गया। बहन छोटी थी ही, बड़े प्रेम से सेवा करती रही। सुधर्मा ने उसे बता दिया 'रोज मिट्टी के एक सौ एक शिवलिंग बनाकर उनकी विधि-विधान से पूजा करो और फिर निकटस्थ तालाब में उन लिंगों का प्रवाह कर दो।' इसी नियम से वह चलती रही करते-करते उसका लक्षार्चन पूरा हुआ, एक लाख लिंगों का पूजन पूरा हुआ। घुष्मा को

गर्भ रह गया और कल्याणगुणसंपन्न एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ। अब तक तो दोनों बहनों में कोई भेद हुआ नहीं था पर पुत्र होने के बाद भेद ग्रहण होने से सुदेहा में स्पर्धा का भाव उठ गया। उसके मन में उग्र स्पर्धा आ गयी। पहले जो उसका हृदय शीतल था, वही अब तलवार की तरह क्रूर हो गया। आने वाले सब लोग घुष्मा को ही बधाई देवें। घुष्मा का सुख सुदेहा से सहन न हो। कोई यदि लड़के की प्रशंसा करे तो भी उसे अच्छा न लगे कुछ बड़ा होने पर उसकी पढ़ाई की प्रशंसा हो तो उसे जलन होवे। धीरे-धीरे लड़का जवान हुआ। उसके विवाह के लिये प्रस्ताव आने लगे। योग्य कन्या से उसका विवाह भी हो गया। सुधर्मा ने विवाह के समय आयी वस्तुओं को दोनों पत्नियों में समभाव से वितरित किया। घुष्मा ने भी बहू को समझा दिया कि वह सुदेहा की सास की तरह ही सेवा करे। सुदेहा बार-बार कहे 'मैं बड़ी हतभागिनी हूँ।' घुष्मा समझाती थी 'अरे यह पुत्र भी तेरा ही है। क्यों ऐसा विपरीत भाव मन में लाती है ?'

सुदेहा की जलन इतनी बढ़ गयी कि उसने निश्चय किया कि वह घुष्मा के आसुओं से ही ठंडी पड़ सकती है **'मदीयहृदयाग्निश्च घुष्मानेत्रजलेन वै।'** इसके अतिरिक्त कोई उपाय उसे पर्याप्त न लगा। सोचते सोचते यह दुर्भावना अतिदृढ हो गयी। मनुष्य का मन जैसा सोचता है वैसा ही होता चला जाता है। एक दिन उसने निश्चय किया कि रात में इस लड़के को मार कर काट कर फेंक दूँ। छुरा लेकर वह गयी। लड़के के टुकड़े कर डाले और उन्हें उसी तालाब में डाल दिया जहाँ घुष्मा प्रतिदिन पार्थिव लिंगों का विसर्जन करती थी। हृदय शांत हो गया। घर जाकर बड़े सुख से सोयी। प्रातःकाल बड़ा उत्साह था उसे। दम्भी कपटी व्यक्ति ऐसा होता है; इतना भयंकर काम करके भी उत्साह था उसे। घुष्मा तो यथानियम पूजन में लग गयी। सुधर्मा भी नित्य कर्म करने मेंलग गया। जब नवोढा पत्नी ने पति की शय्या देखी तो देखती है बिस्तर खून से भरा हुआ और शरीर के कुछ टुकड़े पड़े हुए हैं। बड़े जोर से चिल्लाई 'यह क्या हो गया ! किसी ने काट कर खत्म कर दिया !' यह सुनकर भी घुष्मा अपनी पूजा से विचलित नहीं हुई क्योंकि उसमें दृढता थी। लड़का हो चुकने पर भी वह पहले की तरह ही नियम से पूजा किया करती थी। आज कल तो लोग जब तक कुछ चाहिये तब तक बड़े नियम से यज्ञ-यागादि करते हैं। जैसे ही मुकद्दमे का फैसला हो गया वैसे ही सारा उत्साह ठंडा पड़ जाता है। पर घुष्मा

ऐसी तो थी नहीं। वह अपने नियम से हिली नहीं। इतना ही नहीं, पुत्रवधू का विलाप सुनकर भी उसके मन में यह उत्सुकता भी नहीं जगी 'क्या हो गया? कैसे हो गया?' प्रायः लोग व्रतभंग न हो जाये इस डर से क्रिया तो पूरी कर लेते हैं पर मन से सोचते रहते हैं। घुष्मा के मन में भी ऐसा नहीं हुआ। उसका निश्चय था-**'येनैव चार्पितश्चायं स वै रक्षां करिष्यति'** जिसने दिया है वही रक्षा करेगा। वह भक्तों पर प्रेम करने वाला है, काल का भी काल है। उसके रहते मुझे क्या सोचना है। और यदि उस महादेव ने निर्णय कर लिया है तो भी सोचना व्यर्थ है। जैसे माला बनाने वाला किसी फूल को गूँथ देता है, किसी को निकाल देता है ऐसे परमेश्वर जिनका हमसे सम्बन्ध रखना चाहते हैं उन्हें हमसे संयुक्त कर देते हैं तथा जिनसे नहीं रखना चाहते उन्हें वियुक्त कर देते हैं—

'मालाकार इवाऽसौ तान् युनक्ति वियुनक्ति च।'

अतः उसके मन में न उत्सुकता हुई, न दुःख हुआ।

मध्याह्न में जब उसकी पूजा समाप्त हुई तब पुत्रवधू को उसने सान्त्वना दी। फिर वह पार्थिवेश्वरों का प्रवाह करने गयी। जब लौटने लगी तो देखती है वहीं उसका पुत्र खड़ा हुआ है। उसने माता से कहा 'तुम्हारी कृपा और भगवान् शंकर के कारण में मरकर पुनः जी गया हूँ।' किन्तु जैसे पुत्र के मरने से घुष्मा को कोई दुःख नहीं हुआ था, वैसे ही उसे जीवित देखकर उसे कोई हर्ष भी नहीं हुआ। उसकी ऐसी स्थिति देख भगवान् वहीं ज्योति रूप से प्रकट हो गये। उन्होंने उसकी निष्कपटता से अपनी प्रसन्नता प्रकट की और कहा 'तुम्हारे पुत्र की घातिनी को मैं समाप्त किये देता हूँ।' घुष्माने मना किया-'वह तो मेरी बहन है, रक्षा के लायक है'। भगवान् ने कहा--'अरे उसने तो तेरा अत्यधिक अपकार किया है, पुत्र को मार दिया।' घुष्मा ने उत्तर दिया 'आपने ही शास्त्रों में कहा है-

'अपकारेषु यश्चैव ह्युपकारं करोति च।
तस्य दर्शनमात्रेण पापं दूरतरं व्रजेत्।।'

जो अपकार करने वाले का उपकार करता है उसका दर्शन भी पापों को दूर कर देता है। मेरी बहन तो रोज मुझे देखती ही है। आप उसका भी कल्याण ही करे।' भगवान् प्रसन्न हो गये। सुदेहा की बुद्धि शुद्ध होने का आर्शीवाद दिया। उन्होंने घुष्मा से पूछा 'और क्या चाहती हो?' उसने कहा 'भगवन्! और मुझे

कोई कामना नहीं। आप यहाँ प्रकट हुए हैं तो हमेशा के लिये आप यहाँ स्थिर हो जायें।' भगवान् बोले 'तुम्हारे नाम के साथ ही यह स्थल प्रसिद्ध हो जायेगा। यहाँ मेरे लिंग का नाम होगा घुष्मेश्वर। तुम्हारे द्वारा चढ़ाये लाखों लिंग यहाँ स्थिर रहेंगे! भक्तों को ये प्रस्तरमूर्ति के रूप में—पत्थर के लिंगों के रूप में मिला करेंगे। इसलिये इस तालाब का नाम शिवालय हो जायेगा!'

सुदेहा ने जब पुत्र को स्वस्थ देखा तो बड़ी लज्जित हुई। घुष्मा ने समझाया 'तुमने स्वतः प्रवृत्त होकर मुझे सौत बनाया। लेकिन तुम्हारे मन में दम्भ था, हिंसा थी। दूसरों द्वारा लगाये लांछन को तुम सहन नहीं कर सकी। बात तुमने बहुत बड़ी कही कि सौत का व्यवहार कभी नहीं करूँगी। यह कपट भाव ही तुम्हारे दुःख का कारण बना। पतिदेव तो हमेशा मना करते रहे। तूने जबर्दस्ती पुनर्विवाह कराया।' सुदेहा ने गलती समझ ली उसने कपट त्याग कर वास्तविक भक्ति करना प्रारम्भ कर दिया।

जब तक हममें दम्भ रहता है, कपट रहता है तब तक हम सुदेहा की तरह बाहर से प्रकट करते हैं कि हममें द्वेष नहीं है, हम प्रेम से रहेंगे। आचरणों से हम दिखलाते रहते हैं कि हममें ये दोष नहीं! और शिकायत हमारी बनी रहती है कि जब हममें ये दोष नहीं तो भगवान् की हम पर कृपा क्यों नहीं? दम्भ से करने के कारण ही वह किया हुआ सफल नहीं होता। यदि घुष्मा की तरह दम्भरहित, कपटरहित सहज प्रेम हो तो परमात्मा जैसा है वैसा प्रकट हो जाता है। वृत्ति द्वारा ही ज्ञान होता है। वृत्ति मन की बनती है। मन में ये साधन होने पर ही साक्षात्कार होकर जीव का कल्याण होता है! इसलिये दम्भभाव को हमेशा छोड़ने का प्रयत्न करें।

तीन

ज्ञानसाधना पर विचार करते हुए पाया कि ज्ञान का प्रधान अर्थ है परमात्मा। ज्ञानरूप ब्रह्म की साधना कैसे हो? परब्रह्म को विषय करने वाली बुद्धिवृत्ति को अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करते हुए मन को भी ज्ञान शब्द से कहा जाता है। लोक में ज्ञान शब्द की प्रवृत्ति वहाँ होती है जहाँ ज्ञाता व ज्ञेय का आपस में सम्बन्ध प्रतीत होता हो। जानने वाला जीव और जिसे जान रहा है वह परमात्मा— इन दोनों की सम्बन्धस्थानीय वृत्ति, अर्थात् जिस वृत्ति से जीव परमात्मा को जानता है, ज्ञान कही जाती है। इस ज्ञान में भी वास्तविक ज्ञान और ज्ञेय का भेद रह नहीं जाता। ज्ञान का वह स्वरूप भगवान् ने गीता के त्रयोदशाध्याय के आरम्भ में बताया **'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम'**। क्षेत्र अर्थात् बुद्धि और उसके विषय। क्षेत्र में अभिव्यक्त चेतन है क्षेत्रज्ञ। क्षेत्रज्ञ में ही क्षेत्र कल्पित रूप से रहता है इस बात की समझ को ज्ञान कहा। क्षेत्र है क्षेत्रज्ञ परमात्मा का ऐश्वर्य, उसकी महिमा, माया या शक्ति। परमात्मशक्ति ही जब प्रकट होती है तब क्षेत्र है, वही सारे संसार के रूप में है, और अप्रकट अवस्था में वही शक्ति अव्यक्त है। अतः यह उसका ऐश्वर्य है, फैलाव है। इन सब रूपों में जो प्रकट हो रहा है व इन्हें प्रकट कर रहा है वही क्षेत्रज्ञ है। इस प्रकार वहाँ परमात्मा के साक्षात्कार को ज्ञानशब्द से कह दिया। तात्पर्य है कि वृत्ति उत्पन्न करने में जो कारण बने वे भी ज्ञान हैं। भाष्यकारों ने कहा है कि ज्ञानार्थ होने से अर्थात् परमात्माकार वृत्ति के लिये अपेक्षित होने से साधनों को भी ज्ञान कहते हैं। ज्ञानयोग आदि पदों में ज्ञानशब्द इसी अभिप्राय से आता है। जिस प्रकार महर्षि पतञ्जलि के योगशब्द का दोनों अर्थों में प्रयोग किया जाता है, अंगो के लिये एवं अंगी के लिये—जब चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहते हैं तब योग शब्द का अर्थ है अंगी व जब आसन, प्राणायाम आदि करने वाले के लिये कहते हैं 'यह योग का अभ्यास कर रहा है' तब योग का अर्थ है अंग— उसी प्रकार अखण्डवृत्तिरूप अंगी भी ज्ञान शब्द से कहा जाता हे और उस तक पहुँचाने वाली सीढ़ियाँ भी ज्ञान शब्द से कही जाती हैं। अतएव जैसे योगाभ्यास

कर रहा है का तात्पर्य होता है चित्तवृत्तिनिरोध के लिये यमादि अंगों का अनुष्ठान कर रहा है वैसे ज्ञानाभ्यास कर रहा है का तात्पर्य है परमात्मसाक्षात्कार के लिये अपेक्षित साधनों का अभ्यास कर रहा है। क्योंकि साधना की अपेक्षा है परमात्माकार वृत्ति के लिये; इसलिये बुद्धिको—जिसकी वह वृत्ति बनती है—लेकर ही सारी साधना प्रवृत्त होती है। अतः भगवान् ने भी मानसिक— अर्थात् मन में संस्कार डालने वाले साधनों को प्रधानता दी। अमानिता, अदंभिता—ये मन में ही रहते हैं। उस परतत्त्व का साक्षात्कार मन द्वारा ही होना है अतः यह युक्त भी है।

तीसरा साधन बताया है अहिंसा। हिंसा का तात्पर्य क्या? सामान्यत प्राणवियोगानुकूलव्यापार, अर्थात् ऐसा कुछ करना जिससे किसी का प्राण उसके देह से हमेशा के लिये छूट जाये, हिंसा समझा जाता है। प्राण वह वस्तु है जो जड में रहकर यह बताती है कि वह (जड) चेतन है। शरीर स्वरूपतः जड है। मरने के बाद भी शरीर ऐसा ही पड़ा रहता है। तब कैसे पता चलता है कि अब यह जीवित नहीं? क्योंकि तब उसमें प्राण की गति नहीं इसी से मालूम पड़ता है कि शरीर अब जीवित नहीं। चाहे आधुनिक यन्त्रों से रक्तचाप देखें, चाहे नाडी की गति देखें, चाहे नाक के सामने रुई आदि रखकर श्वासगति देखें, हर हालत में प्राण का चलना ही पता चलाते हैं जीवित है या नहीं जानने के लिये। जब तक प्राण चलता है तब तक कहते हैं यह जीवित है, चेतन है। जब प्राण देह से वियुक्त हो जाता है—शरीर में प्राण कार्य नहीं करता, जीवनी शक्ति रह नहीं जाती, तब कहते हैं 'अब समाप्त हो गया, मर गया।' देह में प्राणों के रहते यदि अंगुली का एक पोर भी काटो तो तुम पर मुकद्दमा हो सकता है पर प्राण के वियुक्त हो जाने पर सारा शरीर जला देते हो तो भी कोई अभियोग नहीं लगता। क्यों? क्योंकि प्राण हट जाने पर वह चेतन नहीं रहा, अब चाहे जो करो। व्यवहार में प्राण ही चेतन का अव्यभिचारी धर्म है, प्राण है तो चेतन है, प्राण नहीं तो चेतन नहीं। अतः श्रुति में प्राण को परमात्मा की साक्षाद् उपाधि बताया है। कौषीतकी आदि उपनिषदों में प्राणोपासना को बहुत महत्त्व दिया है। इस प्रकार—चेतनता जड में प्रकट हो तब तक जीवन है, चेतनता का जड में प्रकट होना रुक जाये तब मृत्यु है। एवं च चेतनता का जड में प्रकट होना रोक देना ही प्राणवियोगानुकूल व्यापार का तात्पर्य हुआ। चेतनता को जड में प्रकट होने से रोकना हिंसा है। विचार करके देखें तो चेतनता का जड से

सम्बन्ध होना ही बन्धन है और वह सम्बन्ध न होना ही मोक्ष है। जब तक जड-चेतन का सम्बन्ध प्रतीत होता है तभी तक बन्धन है ! चेतनता जड के साथ प्रकट न हो तब बन्धन से मुक्ति है। अतः वेदान्त की दृष्टि से हिंसा केवल इस सम्बन्ध को लेकर है। जहाँ मनुष्य ने अध्यास द्वारा अनात्मा को अपना स्वरूप मान रखा है वहाँ अध्यास के हटे बिना वहाँ से हटे हुए की प्रतीति होना-यही हिंसा का स्वरूप निश्चित होता है। एक अनात्मा से दूसरे अनात्मा में जाने की प्रक्रिया में हिंसा है। इसीलिये गीता में ही आगे बताया है

'समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।'

सर्वत्र समभाव से अवस्थित ईश्वर को देखते हुए स्वयम् अपनी हिंसा नहीं करता, तब परमगति पाता है। **'न हिनस्ति'** हिंसा नहीं करता अर्थात् अहिंसक बन जाता है। जब अपनी हिंसा नहीं करता तभी वस्तुतः इसमें वह योग्यता आती है कि वह दूसरे की हिंसा भी न करे। दूसरे की हिंसा तो हम एक बार कर सकते हैं पर अपनी हिंसा बारम्बार करते चलते हैं। अतः अपनी हिंसा ही हम अधिक करते हैं। इससे बचना हमारा प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है।

विचार करो; दूसरे को मारते हैं तो एक बार प्राण-वियोग कर देते हैं। पर आत्मा-अनात्मा का अध्यास कर हम क्या करते हैं? एक शरीर प्राप्त किया, उसमें अध्यास किया। अतः धर्माधर्म का अर्जन किया और प्रारब्ध समाप्त होने पर उस शरीर से प्राणवियोग कर दिया। उस देह को मारने वाला कौन है? अध्यासपूर्वक प्रारब्ध समाप्ति से हमने ही प्राणवियोग किया है। अतः हम ही मारने वाले हैं। पर एक बार हिंसा करके हम रुक नहीं जाते। जो धर्माधर्म अर्जित किया हुआ है उससे नया शरीर लेते हैं, उसमें फिर अध्यास करते हैं, आगे पुनः शरीर मिले इसकी व्यवस्था करते हैं अर्थात् और धर्माधर्म एककत्र करते हैं तथा प्रारब्ध समाप्ति पर फिर हिंसा कर अगले देह में चले जाते हैं। इस चक्र को चलाते हुए अनादि काल से अनन्त शरीरों को हम प्राणयुक्त कर प्राणवियुक्त करते रहे हैं। इसलिये दूसरे की हिंसा से अधिक हम अपनी हिंसा करते हैं। अतः भगवान् ने कहा **'आत्मना आत्मानं न हिनस्ति'** जब इस प्रकार अपने आप का विनाश नहीं करता तब परम गति पाता है। किन्तु कब? **'सर्वत्र समवस्थितमीश्वरं समं पश्यन्'** जब यह देखता है कि परब्रह्म परमात्मा सभी

देश-काल-वस्तुओं में एक जैसा बैठा है। ऐसा देखने पर न अपनी हिंसा करेगा अर्थात् आत्मा में अनात्मा का अध्यास कर अपनी भी हिंसा नहीं करेगा और दूसरों के आत्मतत्त्व पर देहादि का समारोप कर उनकी भी हिंसा नहीं करेगा। क्योंकि सब में रहने वाले ईश्वर को हम नहीं देखते अतः हम यही देखते हैं कि शरीर-मन-वाणी ने क्या किया, उन क्रियाओं को उस पर आरोपित करते हैं, तभी हिंसा का भाव जगता है। सब में रहने वाले ईश्वर को नहीं देखकर क्रियाओं को देखते हैं तभी हिंसक बनते हैं। जब समभाव से ईश्वर को देखते हैं तब कहीं पर भी आत्मा की हिंसा नहीं करते। इसलिये वेदान्त की दृष्टि से अहिंसा का तात्पर्य है सर्वत्र विद्यमान परमात्मा की दृष्टि पाकर अनात्मा के अध्यास से छूटकर न आगे अपनी हिंसा करना, न दूसरे की।

इस वास्तविक अहिंसा की स्थिति प्राप्त होने के पूर्व अर्थात् जब तक आत्मज्ञान नहीं हुआ तब तक अपर अहिंसा का अनुष्ठान करना चाहिये क्योंकि वह परम अहिंसा की प्राप्ति का साधन बन जाता है। मधुसूदन स्वामी का कहना है **'प्राणिवृत्तिच्छेदो हिंसा।'** जिससे कमाई द्वारा कोई अपना पोषण करता है वह वृत्ति कही जाती है, उसे रोक देना सबसे बड़ी हिंसा है। प्रायः केवल खून खराबे को हिंसा समझा जाता है। किन्तु वृत्तिच्छेद होने पर—पोषण का मार्ग बन्द होने पर—व्यक्ति अन्ततोगत्वा स्वयं प्राणों से वियुक्त हो ही जायेगा। जैसे कुल्हाड़ी से चाहे पेड़ न काटो पर अगर उसकी जड़ से मिट्टी, खाद आदि सर्वथा हटा दो, पानी उस तक पहुँचने न दो तो पेड़ खुद-ब-खुद मर ही जायेगा। तिब्बत के लामों में बौद्ध भिक्षुओं में एक विचित्र पद्धति है। सिद्धान्ततः वे प्राणिहिंसा नहीं करते पर मांस खूब खाते हैं। उनसे पूछो तो वे बताते हैं 'हम किसी को मारते नहीं। जानवर के हाथ-पैर बाँधकर उसके नाक-मुँह में रुई आदि ठूस कर कस देते हैं, थोड़ी देर में वह स्वयं मर जाता है। हमने उसे मारा नहीं और खुद मरे हुए को खाने का हमारे यहाँ निषेध नहीं। यों अहिंसा का हमारे मांसाहार से विरोध नहीं।' तिब्बत में ही नहीं, यहाँ भी ऐसी दृष्टि वाले मिलते हैं। एक अहिंसक महाशय के घर चोरी करता हुआ चोर पकड़ा गया। अहिंसक जी के पुत्रों को गुस्सा आया, उसे पीटने लगे। पिताजी आये तो बोले 'अरे' ! यह क्या कर रहे हो? अपना तो अहिंसक घर है। ऐसे मारते हुए कहीं खून निकल गया तो क्या होगा? ऐसे न मारो। इसे पत्थर भरे बोरे से बाँधकर नदी में डाल दो। घर में खून गिरना बुरा है।' बेचारा चोर कहने लगा 'इससे तो लड़के ही पीट

लें यही अच्छा है।' आधारभूत विचार क्या है? 'मैंने मारा नहीं, मैंने तो केवल फेंक दिया, हिंसा कहाँ की?' इसी तरह पोषण के उपायभूत साधन का—वृत्ति का, रोजगार का— छेदन करने को हिंसा नहीं मानते, चाहे उससे उस व्यक्ति के प्राण अवश्य संकट में पड़ें।

अहिंसा केवल एक अभावात्मक स्थिति नहीं है, भावरूप वृत्ति भी है। आचार्य नीलकण्ठ लिखते हैं **'सर्वत्र दयालुः भवतीत्यर्थः'**—अहिंसक सर्वत्र दयालु हो जाता है। किसी को पीड़ा नहीं दी इतना ही पर्याप्त नहीं, दूसरे की पीड़ा हटाना भी जरूरी है। श्रीधरस्वामी कहते हैं **'परपीडानिवृत्तिः।'** प्राणिमात्र के प्रति दया, दूसरे की पीडा हटाने के प्रति जागरूक रहना- इस भावात्मक अहिंसा को भूलकर प्रायः केवल अभावात्मक पक्ष पर ही बल देने से इसका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। जब तक परायी पीडा हटाने की चेष्टारूप दया हमारे अन्तःकरण में स्थिर नहीं होती तब तक आत्मज्ञान की संभावना नहीं।

सम्भवतः अहिंसा इस शब्द के कारण ही हम लोगों में सीधे मारने की प्रवृत्ति कम है पर हमारी लापरवाही से कोई मरे तो हम अपने को उसके लिये जिम्मेदार नहीं समझते। एक बार हम पुणे में कार से जा रहे थे। सड़क पर एक आदमी गिरा पड़ा था, सिर फटने से खून निकल रहा था। हमने कहा 'अरे! गाड़ी रोको, इसे अस्पताल पहुँचा दें।' जो हमारे साथ थे—और वे सामान्य व्यक्ति नहीं, वहाँ की म्युनिसिपलिटी या कार्पोरेशन के सदस्य थे—बोले 'अरे स्वामी जी! जाने दीजिये। इसमें बहुत झंझट होती है। ऐसे में हाथ नहीं डालना चाहिये, पुलिस बहुत तंग करती है। पड़ा रहने दीजिये।' हमने कहा 'तुम्हे तंग न होना हो तो तुम जाओ, हमें यहाँ उतार दो। हम ही प्रयास कर लेंगे। यहतो ऐसे पड़ा मर ही जायेगा। यदि पुलिस के पास दस बार जाना भी पड़ा तो मर थोड़े ही जायेंगे।' आखिर उन्हें शर्म आयी और उन्होंने व्यवस्था की। मरते हुए को यों ही छोड़ देने से उसकी हिंसा का मैं भागी बना—यह भावना नहीं है। अपने हाथ से नहीं मारा तो अपने को अहिंसक समझ लेते हैं, फिर चाहे हमारी ही लापरवाही से चाहे जितने मरें। जैसा मनुष्य के साथ वैसा ही गाय के प्रति भी हमारा अहिंसा का भाव है। बूचड़खाने में गोवध रोकने के लिये हम जितना प्रयास करते हैं उसका सहस्रांश भी उसके जीवनयापन के लिये नहीं करते। गायें

मारी-मारी फिरती हैं, डण्डें खाती हैं, इसे रोकने के लिये हम कुछ नहीं करते। साक्षाद् वध न हो, यों चाहे कष्ट पाकर मरे। इसे हम उसका अपना प्रारब्ध मानकर अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं समझते। इसलिये अहिंसा शब्द का प्रयोग करते हुए याद रखो कि इसका व्यापक अर्थ है। धर्मशास्त्रों में चार प्रकार की हिंसा बतायी है **'कृतं च कारितं चैव वांछितं चानुमोदितम्'।** कृत—स्वयं की गयी हिंसा कारित-नाक-मुँह बन्द कर मरने दिया या दूसरे से मरवा दिया। वांछित—हम चाहते हैं कि ऐसा हो जाये, अमुक मर जाये, तो ठीक है, किया करवाया नहीं, पर चाहा ; यह भी हिंसा है। अनुमोदित—दूसरा हिंसा कर रहा है तो उससे राजी होना : 'ठीक किया। ऐसों को ऐसा ही दण्ड मिलना चाहिये' आदि भाव रखना। यह भी हिंसा ही है।

इस व्यापक अर्थ की दृष्टि से ही वाचस्पति मिश्र कहते हैं

'अहिंसायाः प्राथम्येन सर्वे यमास्तस्याः साधनम्।'

अहिंसा प्राथमिक अनुष्ठेय है, सभी यम इसी के उपाय हैं। योगसाधना का प्रथम कदम है यम और पाँचों यमों में पहला है अहिंसा **'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।** क्यों अहिंसा को यह महत्त्व दिया? कारण है कि बाकी यम अहिंसा को सिद्ध करने में साधन बन जाते हैं। सत्य का मतलब है वाणी से दूसरे को धोखा देने की हिंसा न करना। झूठ बोलने का उद्देश्य दूसरे को धोखा देना रूप हिंसा करना ही है। अस्तेय का तात्पर्य है दूसरे की चीज की चोरी करना रूप हिंसा न करना। दूसरे के स्वत्त्व को जबरदस्ती हटाना हिंसा ही है। ब्रह्मचर्य का अभिप्राय दूसरे को अपना भोग्य न समझना अर्थात् उसके भोक्तृत्वरूप स्वातन्त्र्य की हिंसा न करना। अपरिग्रह कहते हैं परिग्रह न करने को। जिन चीजों पर दूसरों की दृष्टि है वे मेरे द्वारा ही भोगी जायें, अन्य उन्हें न पायें, यह जो पदार्थों को चारों ओर से पकड़ कर रखना है वही परिग्रह है। यह भी हिंसा का प्रकार है। क्योंकि इससे परपीडा होती ही है। आचार्य शंकर तो लिखते हैं कि एक कौर भोजन भी ऐसा नहीं जिस पर मक्खी, चींटी, चिड़िया आदि की दृष्टि न हो, वे जिसे न चाहते हों। उन सब की उस पर दृष्टि रहते हुए जो हम उसे खा जाते हैं, यह हिंसा ही है।

प्रश्न उठता है कि इस परिस्थिति में जीवन बिना हिंसा के चले कैसे? वेदान्त बिल्कुल व्यावहारिक ढंग बताता है। सामवेद की छान्दोग्य उपनिषत् कहती है

'अहिंसन् सर्वा भूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः'– जीवननिर्वाह के लिये शास्त्र ने तुम्हें जितनी छूट दी है उससे अन्यत्र ही तुम अहिंसा का अनुष्ठान कर सकते हो। अन्यथा तुम अहिंसा के नाम पर अपनी ही हिंसा करने लगोगे। अतः संन्यासी जब भिक्षा लेने जाता है तब मार्ग में कीटादि के मरने से उसे दोष नहीं लगता। इसी प्रकार गृहस्थ जहाँ जल रखता है वहाँ कुछ कीट मरते ही हैं, चूल्हा पोतने आदि में प्राणिहिंसा होती है पर क्योंकि उसके जीवननिर्वाह के लिये ये कृत्य शास्त्र द्वारा स्वीकृत हैं इसलिये उनसे होने वाली अनिवार्य हिंसा उसके लिये दोषावह नहीं।

हिंसा नैसर्गिक है, स्वाभाविक है, सिखानी नहीं पड़ती। बिल्कुल छोटे बच्चे की भी इच्छा में व्याघात होने पर वह हाथ-पैर मारता है। अहिंसा के लिये शिक्षा की जरूरत है। इसलिये मन में संस्कार दृढ करने के लिये सर्वत्र अहिंसा का भाव लाना पड़ता है। मनुष्य के पास मन एक है। उसमें बाड़ा नहीं बना सकते-इतने हिस्से में हिंसा होगी, इतने में अहिंसा। यदि हिंसा के संस्कार डालोगे तो अहिंसा की भावना दबती ही जायेगी बहुतेरे आधुनिकों की विचारधारा में मनुष्य की हिंसा ही हिंसा है, पशुओं की हिंसा हिंसा ही नहीं है। भारत से बाहर प्रायः यही दृष्टि है। इसी कारण वे पशुहिंसा से विरत होते नहीं और फलतः अहिंसा उनमें दृढ हो नहीं पाती। मांस खाते हुए जब निरन्तर दूसरे के प्राणवियोगानुकूलव्यापार की प्रवृत्ति है तो अहिंसा कैसे स्थिर होगी? मांस खाने में हिंसा नहीं है—यह तो बात ही हास्यास्पद है। कुछ लोग कहते हैं 'पशु अपने आप मरेंगे ही, हमने ही मार कर खा लिया तो क्या हानि है?' पर अपने आप तो मनुष्य भी मरेंगे ही ! अफ्रीका में एक ईसाई पादरी वहाँ वालों को सुना रहा था कि प्रथम विश्वयुद्ध में किस प्रकार यूरोप में लाशों का ढेर लग गया था। सुनने वाले अफ्रीकी नरभक्षी थे, सुनते ही उनके मुँह में पानी आ गया। पूछने लगे 'तो फिर आप उन्हें कितने दिन तक खाते रहे?' पादरी घबराकर बोला 'अरे ! हम लोग नरभक्षी थोड़े ही हैं। खाने के लिये थोड़े ही मारा था।' अफ्रीकी बोले 'तो क्या आप लोग लोगों को बेकर ही मारते हैं? खाने के लिये मारो तो बात कुछ समझ आती है, व्यर्थ क्यों मारना?' जैसे उन्हें मनुष्य का व्यर्थ मरना समझ नहीं आया वैसे इन लोगों को पशुओं का व्यर्थ मरना समझ नहीं आता। कुछ तो आगे बढ़कर कहते हैं—नहीं खाये जायेंगे तो पशु पृथ्वी पर अत्यधिक बढ़ जायेंगे !

मांसाहार और हिंसक प्रवृत्ति का सम्बन्ध भारत के चालीस वर्षों के इतिहास से स्पष्ट हो रहा है। पहले यहाँ न अधिकतर लोग मांस खाने वाले थे और न मनुष्यों की इतनी हिंसा होती थी। अब मांस खाना बहुत बढ़ गया है और साथ ही साथ हिंसा बढ़ी है। मांसाहार तो इस निर्लज्जता से बढ़ा है कि भ्रूण हत्या को हिंसा ही नहीं समझते, कहते हैं अण्डा खाने में कोई दोष नहीं ! भारत में अभी भी पिच्चासी प्रतिशत हिन्दू हैं व उनमें साठ प्रतिशत सनातनी। उन्हीं से पैसा लेकर दूरदर्शन पर समझाते हैं—अण्डा खाओ। यदि सनातनी इस बारे में दृढ हों कि वह अपने धन से ही सिद्धान्त के विरुद्ध प्रचार नहीं करने देगा, यदि ऐसा प्रचार चलता रहे तो वह एक पैसा भी कर नहीं अदा करेगा, तो यह हमारे पैसे से हमारे ही विरोध का प्रचार क्यों नहीं रुकेगा? जितना मांसभक्षण बढ़ जाता है उतनी ही हिंसा फैल रही है। भारत में भी कश्मीर, पंजाब, अरुणाचल, आदि प्रान्त अधिक मांसभक्षी हैं यह सब जानते हैं। और सबसे ज्यादा आतंकवाद भी इन्हीं स्थानों में है। अपने आपको वैज्ञानिक कहने वाले क्या कभी इस पर भी विचार करते हैं कि इनका—मांसाहार और आतंकवाद का—साहचर्य क्यों है? स्पष्ट है, जब दूसरे के प्राण लेने में संकोच नहीं रहेगा तो फिर मनुष्यों की हिंसा में भी हम निःसंकोच हो जायेंगे? इन्हीं कारणों से मजदूर व मालिक में हिंसा बढ़ रही है। मजदूर पहले मालिक को पिता मानता था और और मालिक के मन में उसके प्रति पुत्रभाव था। अब नौकर समझता है मालिक खून चूसने वाला पूँजीपति है और मालिक की दृष्टि है कि नौकर कम से कम काम कर मुझसे अधिक से अधिक धन लूटने वाला है। नौकर मालिक का रिश्ता रस्साकसी जैसा हो गया है। यही हाल राष्ट्रीय सम्बन्धों का है। राष्ट्र में और राष्ट्रों में आपस में युद्धों के पीछे भी हिंसा की प्रवृत्ति ही कार्य करती है। मन से हिंसा का भाव चला जाये तो सर्वत्र फर्क पड़ जाता है।

हिंसा का भाव कहाँ तक हटना चाहिये? अमृतमन्थन के लिये देवता व असुर एकत्र हुए। मन्दराचल और वासुकी की सहायता से समुद्रमंथन प्रारम्भ किया। पहले लक्ष्मी, उच्चैःश्रवा घोड़ा, कौस्तुभमणि, ऐरावत हाथी आदि रत्न निकले। इनके ग्राहक बैठे ही थे, झटपट लेते चले। अन्त में हलाहल विष निकला, कालकूट जहर निकला। धुएँ से युक्त अग्नि की तरह जलते हुए उसने सारे जगत् को घेर लिया **'जगदावृत्य सहसा सधूमोऽग्निरिव ज्वलन्'**। उसकी तीव्र गन्ध से त्रिलोकी बेहोश होने लगी। सबने विष्णु से कहा 'कुछ उपाय कीजिये।'

विष्णु बोले 'अरे भाई ! हमने तो निकली चीजों में पहले ही लक्ष्मी व कौस्तुभ ले रखा है। जिसने अब तक कुछ न लिया हो वह इसे ग्रहण करे। देखो ! वे दूर बैठे भगवान् शंकर हैं। उन्होंने अब तक कुछ नहीं लिया उनके पास चलो वे ही इसे लेंगे। वे सब चल दिये **'विद्रुत्य तरसा तात शम्भोस्ते शरणं ययुः।'** जाकर सबने स्तुति नमस्कार आदि करना प्रारम्भ किया। भगवान् ने पूछा 'कहो भाई, क्या बात है?' देवादि बोले 'चारों तरफ सब जल रहे हैं। इनका आप रक्षण कीजिये। हलाहल सब को नष्ट किये दे रहा है। आप इसे ग्रहण कर हम सबको बचाइये।' भगवान् ने कहा 'लाओ, पी जाते हैं उसे।' यह है दया। वे तो तैयार हो गये लेकिन पार्वती जी भी वहीं बैठी थीं। आचार्य शंकर लिखते हैं—

'सम्भ्रान्तायाः शिवायाः पतिविलयभिया, सर्वलोकोपतापात् संविग्नस्यापि विष्णोः, सरभसमुभयोर्वारणप्रेरणाभ्याम्।'

पार्वती विचार करने लगी कि देवता तो अपना स्वार्थ देख रहे हैं, पर यदि इन्होंने पी लिया तो मेरा क्या होगा ? मेरे तो एक यह ही हैं। केवल पति मरने की बात नहीं। पति शब्द भावप्रधान निर्देश होने पर पतित्व को—पतिपने को--कहता है। पशु रहेंगे तभी शिव पशुपति रहेंगे। महादेव हैं विश्वोदर—सारा संसार उनके पेट में है। उन्होंने यदि जहर पी लिया तो उदरस्थ सब प्राणी समाप्त हो जायेंगे। फिर पशुपति कैसे रहेंगे? इसलिए वे वारण करने लगी —'मत पीजिये, मेरी ओर देखिये। 'उधर विष्णु का काम है संसार की रक्षा करना। वे संविग्न—उद्विग्न हो रहे थ। यदि नहीं पिया तो सारा संसार ही नष्ट हो जायेगा, रक्षा का कार्य ही समाप्त हो जायेगा। सबका उपताप देखकर वे प्रेरणा देने लगे'पीजिये। उधर मत ध्यान दीजिये। औरतों का स्वाभाव ऐसे ही बोलते रहने का होता है।' दोनों का अपना-अपना आग्रह।

भगवान् तो अहिंसा के मूर्तिमान् रूप हैं। उन्हें दोनों ही बात रखनी थी। यदि विष बाहर रहता तो बाह्यजगत् को जला डालता, यदि वे पी ही जाते तो भीतरी विश्व समाप्त हो जाता। अतः जैसे त्रिशंकु बीच में लटका है ऐसे परमेश्वर ने उसे न बाहर छोड़ा और न पेट में जाने दिया, गले में रख लिया

'मध्ये त्रैशंकवीधामनुभवति दशां यत्र हालाहलोष्मा।'

कभी एक बूँद पानी कण्ठ में रोक कर देखो कितना कठिन काम है। थूक भी गले में फँस जाये तो मारे खाँसी के जान आफत में हो जाती है। पर शंभु

ने न जाने कितने वर्षों के लिये प्रलयानलसदृश हलाहल कण्ठ में धारण कर रखा है। अमृतमंथन सत्ययुग का इतिहास है: हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद के पुत्र विरोचन के पुत्र बली से त्रस्त देवताओं ने ब्रह्मा से अमृतमंथन के लिये प्रार्थना की थी। कहाँ सत्ययुग और कहाँ अब कलियुग और अभी न जाने कब तक उस विष को वहाँ कण्ठ में बना रहना है ! उसी से तो वे नीलकण्ठ हैं। इतना धैर्य, इतनी सहनशीलता, इतनी निर्व्याज करुणा—यह अहिंसा की सीमा हैं।

अपनी व परायी—कोई हिंसा नहीं करनी है। अहिंसा का तात्पर्य है अध्यास की निवृत्ति द्वारा न स्वयं को पुनः जन्म के चक्र में ले जाना व न अन्यों में समवस्थित ईश्वर को भूलकर उनके शरीरादि का उन पर अध्यास करना। अनात्मा का आत्मा से आरोप सर्वथा निवृत्त करना—यही वास्तविक अहिंसा है। संसाररूप कालकूट को त्रैशंकवीय अवस्था में धारण कर रखना है। अज्ञान को ऐसे काम में लेना है कि न दूसरे का नुकसान करे, न अपना नुकसान करे और इसी के द्वारा आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाये। इससे ही मन में ऐसी शक्ति व सामर्थ्य आती है कि वह परमात्माकार वृत्ति बना सके। व्यावहारिक अहिंसा का पालन करते करते ही यह अन्तिम अहिंसा प्राप्त होती है। व्यवहार में हिंसक बने रहते हुए वास्तविक अहिंसा प्राप्त होना संभव नहीं।

चार

परमात्मा एवं तद्विषयक अर्थात् तदाकार वृत्ति ज्ञान शब्द का अर्थ बताया। इतना ही नहीं, परमात्माकार वृत्ति बनाने की सामर्थ्य मन में जिस उपायसमूह से आये वह भी ज्ञान कहा जाता है। प्रश्न उठता है कि उसे ज्ञान ही क्यों कहते हैं? ज्ञानसाधना को ज्ञान क्यों कहा? वेद में भी **'विदित्वा अति मृत्युमेति'**– परमात्मा को ही जानकर मृत्यु से परे जाता है-**'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्'**– ज्ञान से ही मोक्ष होता है,– आदि जगह-जगह ज्ञान कहा है व परमात्मा की प्राप्ति के लिए उसे ही साधन कहा है। ऐसा है क्यों? ज्ञानमार्ग में यह स्वीकृत है कि परमात्मदर्शन, परमात्मा की प्राप्ति, मन के द्वारा होगी और यह बात भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग, योगमार्ग सर्वत्र स्वीकार्य है। फिर ज्ञानशब्द से ही वेद में व गीता में परमेश्वर प्राप्ति के उपाय को क्यों प्रतिपादित किया?

मन में दो प्रकार की सामर्थ्य है। हमारे पास दो प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ। जिन से हम कर्म करते हैं वे हाथ, पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ हैं और जिनसे हमें ज्ञान होता है वे आँख, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियाँ। किन्तु कर्म व ज्ञान दोनों के लिये मन की जरूरत एक जैसी है। मन के बिना कर्म व ज्ञान दोनों नहीं होते। कर्म भी पहले मन से करना पड़ता है फिर चाहे उसे कर्मेन्द्रियों से करे; और जानना तो मन द्वारा पड़ता ही है, बिना मन के इन्द्रियों द्वारा पदार्थ जाने नहीं जाते। इसलिये जब ज्ञानसाधना में कहा जाता है कि परमात्मा मन से जाना जाता है तथा जब ज्ञानेतर सब साधनाओं में कहा जाता है कि उसे मन से जाना जाता है तो दोनों जगह मन की अलग-अलग क्षमताओं को लेकर कहा जाता है। ज्ञानसाधना में मन की जानने की सामर्थ्य की दृष्टि से कहा जाता है तथा अन्यत्र उसकी करने की सामर्थ्य की दृष्टि से। मन भले ही दोनों दृष्टियों में है; एक दृष्टि में मन से क्या करो इसमें तुम स्वतंत्र हो व दूसरी में मन जिसे जानेगा उसके अधीन है। आचार्य शंकर ने बताया है

'वस्त्वधीना भवेद् विद्या कर्त्रधीनो भवेद् विधिः'।

ज्ञान विषय के परतन्त्र होता है और क्रिया कर्ता के अधीन होती है। जहाँ तुम करने, न करने या अन्य ढंग से करने में स्वतंत्र हो वहाँ कर्म है। जहाँ तुम स्वतंत्र नहीं, जैसी चीज है वैसा ही जान सकते हो, वहाँ ज्ञान है। यही ज्ञान और कर्म का भेद है। हाथ तुम उठाओ या न उठाओ इसमें तुम स्वतन्त्र हो, मन स्वतन्त्र है; पर अगर कहीं मिर्च का छौंक लगा है तो तुम मिर्च ही सूँघ सकते हो, जबरदस्ती छींकना ही पड़ेगा; वह तुम्हारे अधीन नहीं। हाँ, नाक बन्द कर सकते हो—ज्ञान का मार्ग अवरुद्ध कर सकते हो—पर जो जहाँ नहीं उसे देख नहीं सकते, जान नहीं सकते। सामने पत्थर है तो तुम उसमें परमात्मा का ध्यान तो कर सकते हो पर दीखेगा पत्थर ही, ज्ञान पत्थर का ही होगा। पत्थर में भगवान् की बुद्धि बना सकते हो किन्तु जैसे ही बुद्धि बनाना छोड़ोगे, पत्थर जैसे का तैसा दीखता रहेगा। मन में ये दोनों परस्पर विलक्षण क्षमतायें हैं। एक जगह कर्ता के अधीन होकर मन प्रवृत्ति करता है और दूसरी जगह वह चीज के अधीन है। ज्ञान में विषय के परतंत्र हो, तुम्हारी स्वतन्त्रता नहीं। यदि लाल वस्तु है तो सब साधन सही होंगे तो वह लाल ही दीखेगी, काली नहीं देख सकते। पर करने में स्वतन्त्रता स्पष्ट है। हम कहते हैं रास्ते पर चलो, तुम कहते हो हम तो मारवाड़ी हैं, रास्ते पर क्यों चलें?

'रस्ते तो गाड़ी चले रस्ते चले कपूत।
एते रस्ते ना चले सिंह शूर सपूत।।'

रास्ते पर तो गाड़ी चलती है। गाड़ी को रास्ते पर चलाना पड़ता है। चौराहे पर लाल रोशनी है, उसके रहते सड़क पार नहीं करनी है। तुम गाड़ी चला रहे हो और कोई सड़क पार करता आ रहा है, धक्का लग जाता है। कोई यह नहीं कहेगा 'यह क्यों सड़क पार करने आया?' सब कहेंगे 'देखकर गाड़ी चलाया करो।' इसलिये 'रस्ते तो गाड़ी चले।' और कानून से चलने वाले कपूत रास्ते पर चलते हैं। बस की लाइन में कपूत बेचारे खड़े रह जाते हैं जो शूर व सपूत होते हैं वे धक्का मुक्का कर आगे पहुँच कर झट बस पर चढ़ जाते हैं। सिंह—शेर—तो रास्ते क्योंकर चलेगा। रास्ते चलो कुरास्ते चलो, तुम स्वतन्त्र हो पर अगर मार्ग में गड्ढा है तो इसमें तुम स्वतन्त्र नहीं कि उसे गड्ढा न देखो। परमात्मा जैसा है वैसा उसे जानना ज्ञान है। परमात्मा को हम जैसा देखना

चाहें वैसा उसे देखना, यह बाकी सब साधनाएँ हैं। दोनों का अन्तर बहुत बड़ा है।

संसार को देखने पर हर कोई समझता है कि संसार के पदार्थ हमेशा रहते नहीं, अनित्य हैं। नास्तिक से नास्तिक भी यह नहीं मानता कि वह हमेशा सोलह साल का जवान रहेगा या मकान पर किया रंग पचास साल तक ऐसा का ऐसा बना रहेगा। अतः पदार्थ अस्थिर हैं, अनित्य हैं यह सब समझते हैं। पर यदि पदार्थ स्थिर नहीं तो करें क्या? सीधा उपाय यही लगता है कि जो स्थिर न हो उसे ग्रहण मत करो। किन्तु कोई भी चीज तो स्थिर नहीं मिलती। जमीन जैसी अचल वस्तु भी भूकम्पादि से धँस जाती है। चाहे जहाँ चले जाओ, संसार अनित्य ही मिलता है। इसलिये काम अनित्य से ही चलाना है पर हमारे सारे कर्म अनित्य को नित्य बनाने के प्रयत्न हैं। मकान, कपड़ा, बर्तन— चाहे जो हो उसे ऐसा बनाने की कोशिश है कि वह ज्यादा से ज्यादा चले। इस लोक को ही नहीं, परलोक को भी किसी न किसी तरह नित्य बनाना चाहते हैं। ऐसे लोक की प्राप्ति चाहते हैं जहाँ से कभी लौटना न पड़े। वैकुण्ठ, गोलोक, साकेत लोक— कोई तो ऐसा होगा जहाँ से लौटना न पड़े, यही हमें आशा है। इस तरह ज्ञानेतर साधन वाले सभी संसार को अनित्य देखकर उसे नित्य बनाने के प्रयत्न में लगते हैं। किन्तु काम अनित्य से ही चलाना पड़ता है, अन्य उपाय नहीं। वेद ने नियम बता दिया है **'नास्त्यकृतः कृतेन'**–करके जो कुछ पाओगे उसे एक न एक दिन खोना पड़ेगा। जो मिलेगा उससे बिछुड़ना पड़ेगा, जो पैदा होगा उसे मरना पड़ेगा, समय चाहे जितना लम्बा लगे; **'संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम्'**। अतः कोई उपाय नहीं जिससे तुम अनित्य को नित्य बना सको।

तो क्या नित्य की आशा छोड़ दें? यहीं वेद की अद्भुत देन है। वेद एक ऐसा तथ्य प्रकट करता है जिसे सुनते ही हम काँप उठते हैं। वेद कहता है **'नेह नानास्ति किञ्चन'**– जिस भेद से, जिन अनित्य पदार्थों से तुम घबरा रहे हो, वे हैं ही नहीं। अतः उन्हें अनित्य समझकर छोड़ने की या नित्य बनाने की कोई जरूरत नहीं। दीखने वाला भेद वास्तविक नहीं है। इसी अर्थ में वेदान्त का मिथ्या शब्द हैं इसके दो अर्थ होते हैं जिनका भेद न समझने से बहुत लोग वेदान्त में बताया मिथ्यात्त्व गलत समझ लेते हैं। भगवान् पद्मपादाचार्य ने बताया है **'मिथ्याशब्दो द्वयर्थः अपह्नववचनः अनिर्वचनीयतावचनश्च।'** एक तो मिथ्या यह

बताने के लिये कहते हैं कि वह वस्तु नहीं है। दूसरा प्रयोग तब करते हैं जब बताना हो कि वह वस्तु क्या है यह कहना असंभव है। रस्सी में साँप दीखता है, भ्रम होता है, या मोतियाबिन्द से एक चाँद दो दीखता है; यहाँ बाध होने पर, सच्चाई मालूम पड़ने पर, यह तो पता चलता है कि जो साँप हमने देखा था वह किसी भी प्रकार समझ नहीं आता। दीखा जरूर था, पर वहाँ कैसे आया या दीखा यह समझ में नहीं आता। इसीलिये दार्शनिक लोग इस पर विचार करते हैं : कैसे दीखा? कोई कहता है मन में स्मृति हुई, भूल से बाहर समझ लिया; कोई कहता है दूसरी जगह का साँप किसी अलौकिक विधि से दीख गया; कोई कुछ कहता है, कोई कुछ कहता है। पर एक निर्णय पर पहुँच नहीं पाते। कारण सीधा है, कैसे दीखा इसे समझना असम्भव है। यह नहीं कि हमें समझ नहीं आ रहा है। उसे समझा जा ही नहीं सकता। ऐसे में उस साँप को मिथ्या कहते हैं अर्थात् वह वहाँ कैसे उपस्थित हुआ या उसका ज्ञान कैसे हुआ यह बताना असंभव है। यही मिथ्या शब्द का अनिर्वचनीयतारूप अर्थ है।

दूसरा प्रयोग इस शब्द का वहाँ होता है जहाँ कोई झूठ बोलता है। जब कोई मिथ्या भाषण करता है तब यह नहीं होता कि वह वैसा बता रहा है जैसा उसने जाना है। वह तो उसे कहता है जो चीज सर्वथा है नहीं। गया था सिनेमा, बताता है अतिरिक्त कक्षा लगी थी उसमें देर हुई। झूठ और प्रकार का मिथ्या है और रस्सी में साँप और प्रकार का। वेदान्त जब संसार को मिथ्या कहता है तब मतलब यह नहीं होता कि संसार दीखता नहीं। इतना ही तात्पर्य होता है कि संसार कैसे और क्यों दीख रहा है यह पता नहीं लग सकता, समझ नहीं आ सकता। दीखने का निषेध नहीं करते। यही अनिर्वचनीय का तात्पर्य है। यही अभिप्राय वेद का है जब वह कहता है **'नेह नानास्ति किञ्चन'**।

भेद अर्थात् अनेकता। वेद बताता है भेद है नहीं, अभेद है, दीखता चाहे भेद हो। आजकल अभेद की बात बहुत होती है। धन का अभेद, जाति का अभेद, और भी अन्यान्य अभेद करने को कहा जाता है। वेदान्त कहता है अभेद करने की चीज नहीं, वह तो है ही। भ्रम से भेद दीख रहा है। रस्सी में दीखने वाले साँप को हटाने के लिये सँपेरा नहीं बुलाना पडता. डण्डा नहीं बजाना पड़ता। सच्चाई जानी, भय गया। कुछ करने की जरूरत नहीं। है अभेद, भ्रम से, अज्ञान से भेद दीख रहा है। जहाँ अभेद दर्शन किया, भेद हटाने के लिये कुछ करना नहीं बचता। भेद दीखते हुए, व्यवहार करते हुए भी अभेद कहीं जाता नहीं।

महात्माओं में प्रसिद्धि है — एक गणेश भक्त था। उसने पाँच तोले सोने की गणेश जी की मूर्ति बनवायी और पाँच ही तोले का उनका चूहा बनवाया। बहुत समय तक श्रद्धा-भक्ति से पूजा करता रहा। एक बार उसे धन की बहुत जरूरत पड़ी। उसने सोचा मूर्ति बेच दूँ। एक सुनार के पास गया गणेश जी व चूहा लेकर। सुनार ने तोलकर दोनों का एक समान मूल्य लगा दिया, क्योंकि दोनों पाँच-पाँच तोले के थे। भक्त बोला अरे यह तो ठीक नहीं, गणेश जी का भी वही दाम और चूहे का भी वही दाम!' सुनार ने कहा 'न मुझ में गणेश जी को खरीदने की सामर्थ्य है और न चूहा पालने की सामर्थ्य मेरी घरवाली को है। मैं तो केवल सोना खरीद रहा हूँ।" गणेश जी व चूहा — इस भेद को देखते हुए ही सुनार अभिन्न स्वर्ण देख रहा है। खरीद न रहा होता और भक्त के घर जाता तो गणेश जी को नमस्कार ही करता पर यह नहीं कि सोना दीखता नहीं। ऐसे ही सारे भेदों का व्यवहार रहते हुए अभेद दृष्टि हटेगी नहीं क्योंकि सच्ची है। या समझ लो किसी कागज पर राम, लक्ष्मण जानकी का चित्र छपा है। विभिन्न रंगों के कपड़े, गहने, धनुष, तरकस, खड़ाऊ, पुरुषरूप — सभी देखते हैं, लेकिन यह भूल तो नहीं जाते कि कागज पर चित्र है। सारा भेद देखते हुए ही जानते हो कि कागज है। ऐसे ही अभेद दर्शन के बाद व्यवहार ऐसा का ऐसा दीखते हुए भी जानोगे कि सचमुच अभेद है, भेद केवल दीख रहा है। भेद की निवृत्ति के बिना केवल बाध से काम चल जाता है। अनित्य पदार्थों के पीछे डण्डा लेकर नहीं पड़ना पड़ता। यह असम्भव भी है, व्यर्थ भी।

यह मिथ्यात्व न समझ पाने से ही भेदवादी इस पर जोर देता है कि जैसा दीख रहा है वैसा भेद सच्चा है। अभेद ही एकमात्र सत्य है यह जानने का उपाय वेद से अतिरिक्त कोई नहीं है। भेदवादी कई विकल्प करते हैं भेद के बारे में। भेद का खण्डन करने वाले वेदान्ती से वे पूछते हैं — क्या आप कहते हैं कि भेद का ज्ञान नहीं होता, या यह कि हमेशा उसका ज्ञान नहीं होता ? ज्ञान नहीं होता तो कह नहीं सकते, क्योंकि यह बात सभी अनुभवों से विरुद्ध पड़ेगी। और हमेशा नहीं होता यह तो सबको मान्य है, क्योंकि सुषुप्ति आदि में भेदज्ञान कोई नहीं मानता। ऐसे ही बहुतेरे विकल्प वे उठाते हैं। पर श्रीहर्ष सबका निराकरण करते हुए कहते हैं कि ये प्रश्न हम अभेदवादियों से करना ठीक नहीं। हम यह कहते कब हैं कि भेद का निरूपण हो सकता है। ये प्रश्न तो उन्हीं से करो जो भेद को सच्चा मानते हैं —

'यत् तावत् पृष्टं किमेतेष्वन्यतमात्मास्य विषयः तदन्यो वेति, तद् निर्वचवादिषु शोभते, नास्मासु।'

भेदमिथ्यात्ववादी तो कहता है —

'प्रतिभासमानोयं भेदः स्वरूपादिपक्षान्तर्भावानन्तर्भावाभ्यां वा, सदसद्भ्यां वा, अन्येनापि वा धर्मेण येन केनचिद् निरूप्यमाणोन्वयेन व्यतिरेकेण वा, बाध्यताम् एति।'

विचार करते हैं तो भेद कैसा भी सिद्ध नहीं होता। भेद को वस्तु का स्वरूप मानना भी बनता नहीं और वस्तु का धर्म मानना भी बनता नहीं, न उसे सत् कह सकते हैं न असत्। कैसे भी निर्वचन न हो सकने से भेद प्रतीतिमात्र है। केवल भेद के विषय में ही नहीं, संसार में सब चीजों के बारे में यही बात है। चिकित्साविज्ञान चाहे जितना उन्नत हो गया है, आज तक यह भी निर्णीत रूप से नहीं कह सकते कि सिरदर्द की अमुक निश्चित दवा है। केवल सम्भावनायें व्यक्त की जाती हैं। सब वैज्ञानिक मिलकर भी किसी विषय में इदमित्थं भाव से कोई निर्णय नहीं कर पाते। जगत् के मिथ्यात्व में यह एक पुष्ट युक्ति है।

वस्तुएँ भिन्न प्रतीत होती हैं। इसी से भेद माना जाता है। पर वह भेद पुनः वस्तु से अलग ही प्रतीत होता है। घड़ा कपड़े से भिन्न है अतः घड़े में कपड़े का भेद है किन्तु वह भेद घड़ा तो नहीं है, घड़े से अलग ही है। तो भेद का भी घड़े से भेद है। जैसे प्रत्यक्षसिद्ध भेद है वैसे ही युक्तिसिद्ध — अनुमानसिद्ध — भेद है। प्रत्यक्षसिद्ध ही सच्चा है आनुमानिक नहीं, ऐसा कोई नियम नहीं। भेदवादी कहता है बहुत भेद मानने में अनवस्था दोष होगा अतः एक ही भेद मानेंगे पर श्रीहर्ष कहते हैं कि जब पहला भेद मान लिया तो आगे के भेद क्यों नहीं मानते? एक की संख्या से राग व अनेक भेदो से द्वेष करना मोक्षमार्ग के पथिक के लिये कहाँ तक युक्त है? उसे तो समदृष्टि होना चाहिये। न मानो तो कोई न मानो, मानो तो सब मानो। आजकल भी लोग कहते हैं हिंदुस्तानी-पाकिस्तानी का भेद मान लो, ब्राह्मण-क्षत्रियादि भेद मत मानो। जिस प्रकार ब्राह्मण-क्षत्रिय एक जैसे दीखते हैं उसी प्रकार हिंदुस्तानी-पाकिस्तानी एक जैसे दीखते हैं। इतना मानो, इतना न मानो यह पक्षपात ठीक नहीं। इस प्रकार भेद का विचार करो तो उसका निर्णीत रूप समझना सम्भव नहीं, प्रतीति चाहे

हो। अतः मिथ्या है। जब यह ज्ञान होगा कि भेद सच्चा नहीं है तभी अगला साधन क्षान्ति संभव होगा।

हमें सबसे ज्यादा परेशान करने वाला भेद है सुख व दुःख का। बाकी भेदों को न मानने के लिये बहुत लोग कहते हैं, पर इस भेद को—सुख-दुःख के भेद को—न मानना जगत् को सत्य मानते हुए हो नहीं सकता। क्षान्ति इस बात को बताती है कि सुख-दुःख अलग-अलग दीखते हैं पर हैं नहीं। क्षान्ति कहते हैं तितिक्षा को। तितिक्षा अर्थात् सहनशीलता, सह लेना। क्या सहना है? कैसे सहना है? आचार्यों ने बताया है-

'आध्यात्मिकादि यद् दुःखं प्राप्तं प्रारब्धवेगतः।
अचिन्तया तत्सहनं तितिक्षेति निगद्यते।।'

तीन तरह के दुःख आते हैं—शरीर में होने वाले सिरदर्द, पेटदर्द आदि दुःख। दूसरे प्राणियों से होने वाले दुःख जैसे किसी ने गाली दी, आयकर वालों ने छापा मारा। और दैवी प्रकोप से होने वाले दुःख जेसे बिजली गिरने से, भूकंप आने से। प्रारब्धवेग से तत्तत्काल में ये दुःख आते रहते हैं। बिना चिन्ता किये इन्हें सहना तितक्षा है, क्षान्ति है। यहाँ दुःख सहना तितिक्षा कहा। आता प्रारब्ध से सुख भी है पर उसे सहने के लिये किसी उपदेश की जरूरत नहीं। पाँच हजार वेतन मिलता है तो काम चलता ही है। यदि बढ़ोतरी होकर सात हजार हो जाये तो उतने में गुजारा करना सिखाना नहीं पड़ता। हाँ, कम हो जाये तो सहन करना सीखना जरूरी हो जाता है।

तितिक्षा कहाँ तक करनी है? कथा आती है कि आयोध धौम्य के पास उपमन्यु नामक एक शिष्य आया जिसे उन्होंने गोसेवा में नियुक्त कर दिया। उसे भोजन वे देते नहीं थे। कुछ दिन बाद उससे पूछा 'अरे तू खाता क्या है?' उपमन्यु बोला, 'जी गाँव से भिक्षा माँगकर खा लेता हूँ।' धौम्य ने कहा 'भिक्षा का नियम है उसे गुरु को अर्पित कर जो गुरु से बचे वह ग्रहण करे। अतः ऐसा किया कर।' उपमन्यु ऐसा ही करने लगा, पर जो वह लाता था वह पूरा ही धौम्य खा लेते थे, उपमन्यु के लिये कुछ छोड़ते ही न थे। यों कुछ दिन तक करने पर उन्होंने फिर पूछा 'अरे तेरी भिक्षा तो मैं खा लेता हूँ तू फिर भी तगडा दीखता है, क्या खाता है?' उपमन्यु ने उत्तर दिया 'जी दोबारा माँग लेता हूँ।' गुरु ने मना किया 'ऐसा नहीं किया कर। गृहस्थों पर अधिक भार डालना गलत

है। दो बार तू ही माँग लेगा तो अन्य ब्रह्मचारियों का हिस्सा कटेगा। इसलिये ऐसा मत कर।' उपमन्यु मान गया। कुछ दिनों बाद धौम्य ने उसे बलिष्ठ देखकर फिर प्रश्न किया 'अरे भिक्षा मैं खा जाता हूँ दोबारा तू माँगता नहीं, तगड़ा फिर भी बना है, क्या करता है?' वह बोला 'जी गायें चराने जाता ही हूँ, दूध निकाल कर पी लेता हूँ।।' धौम्य ने समझाया 'यह तो गुरु की सम्पत्ति हड़पना हो गया! ऐसा करना ठीक नहीं।' फिर कुछ दिन बीते। उपमन्यु से पुनः पूछा गया 'अब कैसे तगड़ा बना है?' वह कहने लगा 'बछड़े जब दूध पीते हैं तो कुछ फेन, झाग, नीचे गिरता है, वही खा लेता हूँ।' गुरु जी बोले 'यह तो बहुत बुरा करता है। बछड़े दयालु होते हैं। जब तुझे फेन खाता देखते हैं तो समझते हैं तू भूखा है। तब वे खुद कम पीकर ज्यादा गिरा देते हैं। बछड़े ऐसे कमजोर हो जायेंगे। इसलिये यह न किया कर।' अब बेचारा भूख से पीड़ित हो चाहे जो पत्ते खा जाता था।

एक दिन आक के पत्ते खा गया जिससे उसकी आँखें जाती रहीं, वह अंधा हो गया। गायों की आवाज सुनकर उनके पीछे-पीछे चलता रहा। रास्ते में एक कुएँ में गिर गया। गायें आश्रम पहुँच गयीं। गुरु ने देखा शाम हो गयी, उपमन्यु नहीं आया। गुरु शिष्य से चाहे कितनी भी दूर हो उसका ध्यान हमेशा शिष्य की ओर रहता है, उसकी पुष्टि देखता रहता है। जैसे कछुआ रहता पानी में है पर उसका ध्यान अपने अण्डे सेने में लगा रहता है, दृष्टि से ही उन्हें से लेता है, ऐसे ही शिष्य पास हो या दूर, गुरु की दृष्टि उस पर रहती है। धौम्य अन्य छात्रों को लेकर उपमन्यु को ढूँढने निकले। रात हो ही गयी थी, दीखता कम था, आवाज देते चल रहे थे। उपमन्यु ने सुना तो कुएँ के भीतर से बोला 'गुरु जी अंधा हो गया हूँ, कुएँ में गिर पड़ा हूँ।' धौम्य ने कहा 'मैं तुझे वे ऋचाएँ देता हूँ जिनसे अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर तुझे आँखें दे देंगे।' उन्होंने उपमन्यु को वे ऋङ्मन्त्र सिखाये व उनके अनुष्ठान से अश्विनीकुमार प्रसन्न होकर आये और उसकी दृष्टि लौट आयी। साथ ही उसे उन्होंने एक मालपुआ दिया और कहा 'इसे खाले, हमेशा के लिये तू स्वस्थ हो जायेगा।' उपमन्यु बोला 'मेरा नियम है कि गुरु को अर्पित किये बिना भोजन नहीं करता अतः पहले उन्हें दूँगा।' अश्विनीकुमारों ने कहा 'अरे हमने तेरे गुरु को भी मालपुआ दिया था। उन्होंने अपने गुरु को अर्पण किये बिना ही खा लिया था। तू भी खा ले।' वह कहने लगा 'गुरुजी ने चाहे जो किया हो, मैं ऐसा नहीं करूँगा। उन्हें देकर ही

खा सकता हूँ।' अश्विनीकुमार उसकी दृढता पर प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसे सारी विद्याएँ दे दीं। गुरु ने भी उसका अनुमोदन किया। आगे उपमन्यु स्वयं आचार्य बना। क्योंकि इतनी तितिक्षा से उसने विद्या पायी थी इसलिये शिष्यों के प्रति वह अत्यन्त दयालु था।

यह केवल एक उपमन्यु की कथा मत समझ लेना। हममें से प्रत्येक का जीवन यही है। यह संसार एक पाठशाला है जहाँ हम सब ज्ञान प्राप्त करने आये हैं। इस विद्यालय के गुरु हैं परमात्मा। पतञ्जलि ने कहा ही है **'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'** वे परमेश्वर ही परमगुरु हैं क्योंकि गुरुपरम्परा पूर्व से पूर्व कहाँ तक जाती है तो भगवान् शंकर तक ! परमेश्वर की गुरु हैं। इसीलिये श्रीकृष्ण को जगद्गुरु कहते हैं **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्।'** इसलिये परमेश्वर ही आयोध धौम्य है। उन्होंने शिक्षा देने के लिये कहा 'गायें चराओ।' ज्ञानेन्द्रियाँ रात-दिन विषयों को चरती रहती हैं। कभी न कभी अन्तर्यामी प्रश्न करता है 'तू संसार में पुष्ट होता जा रहा है, संसार में आसक्तियों से फूलता जा रहा है, क्या बात है?' जीव कहता है 'जो मिलता है सो खा लेता हूँ।' तब ज्ञान साधना की पहली सीढ़ी बताते हैं —जो भिक्षा मिले उसे पहले गुरु के अर्पण करो अर्थात् प्रारब्ध से जो कोई भी भोग मिले उसे ईश्वर के अर्पण करो।' भगवान् ने कहा ही है

'यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणम्।।'

जो करते हो, खाते हो, होम करते हो, दान करते हो, तप करते हो उस सब को मेरे अर्पण कर दो। प्रारब्धभोग तुम्हारा है पर उसे कर ईश्वर के अर्पण दो। ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म करना, यह प्रथम सीढ़ी है। यह भी तितिक्षा है। परिश्रम कर प्रारब्ध भोग पाया, उसे ईश्वर को देना तितिक्षा ही है। कहाँ तो हम सरकार का कर भी नहीं देना चाहते और कहाँ सारा का सारा भोग ईश्वर को दे देना ! जिसमें तितिक्षा है, क्षान्ति है, वही दे सकेगा।

लेकिन इतने से हमारी पुष्टि समाप्त नहीं होती क्योंकि हम दोबारा माँग लाते हैं अर्थात् फिर नये कर्म कर लेते हैं। तब परमात्मा कहते हैं 'दूसरी बार भिक्षा मत माँगो—नये कर्मों से कर्तृत्त्वबुद्धि हटाओ व काम्यकर्म छोड़ो।' यहाँ और तितिक्षा की अपेक्षा है। फिर भी जब देखते हैं आसक्ति कम नहीं हो रही।

तब भगवान् पूछते हैं 'अब क्या बात है?' तब हम कहते हैं 'यद्यपि हम भोग तो परमात्मार्पण कर देते हैं तथापि सुख-दुःख को अपने पास रख लेते हैं।' वे कहते हैं 'यह भी मत करो। जब मन, इंद्रियाँ सब मेरी हैं तब उनसे होने वाले सुख-दुःख को तुम क्यों रख लेते हो? भोक्ता क्यों बनते हो? कर्तृत्व गया अब भोक्तापन भी छोड़ो।' फिर भी बछड़ों के मुख से गिरा फेन तो खा ही लेते हैं; सुख-दुःख का भोक्ता चाहे न बनें, साक्षिरूप से उनका पकाशक बन ही जाते हैं। गुरु कहते हैं 'यह भी छोड़ो।' तब तितिक्षा पूर्ण होने लगती है। जीव हृदयरूप कुए में गिरता है, समग्र आसक्ति छोड़ कर हृदयगुहा में स्थिर हो जाता है। वहीं **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** आदि ऋग्वाक्य स्पष्ट होते हैं जिनसे ज्ञानचक्षु खुल जाती है, अभेद दीखने लग जाता है। इस तरह अभेद जान लेने पर सभी कुछ जान लिया जाता है, सर्वज्ञभाव प्राप्त हो जाता है।

तितिक्षा का माहात्म्य समझ कर ही भगवान् शंकराचार्य ने कहा है

'तितिक्षया तपो दानं यज्ञः तीर्थं व्रतं श्रुतम्।
भूतिः स्वर्गोपवर्गश्च प्राप्यते तत्तदर्थिभिः।।'

जो तितिक्षु सुख-दुःख का भेद मन से हटा देता है वह तप आदि कर सकता है, वैभव, स्वर्ग और मोक्ष भी वही पा सकता है। सुख-दुःख के चक्कर में पड़ा व्यक्ति इनमें से कुछ भी सही ढंग से नहीं कर पाता। वेदान्त बताता है सुख-दुःख दोनों ज्ञानमात्र में कल्पित हैं, इसलिये ऐसा न करो कि सुख के लिये ही प्रवृत्ति हो। निरंतर दोनों को समान समझते हुए तितिक्षा द्वारा पहले कर्मफल का त्याग करो। तब अन्त में परमात्मा का साक्षात्कार होगा, वास्तविक अभेद का अनुभव होगा। तभी जीवन सफल होगा। इसीलिये क्षान्ति—तितिक्षा—बतायी।

पाँच

हम लोगों को अनुभव में दो प्रकार के ज्ञान आतें है। दो प्रकार के ज्ञानों को दो शब्दों से कहा जाता है। एक परोक्ष ज्ञान, जिस ज्ञान को हम मन के द्वारा करते हैं। यह साक्षात् ज्ञान नहीं है। इसे भी लोक में ज्ञान ही कहते हैं। आजकल दूरदर्शन और आकाशवाणी में और अन्यत्र भी प्रश्नोत्तरियाँ होती हैं, अथवा परीक्षाओं में भी सामान्य ज्ञान के (general knowledge) प्रश्न पूछे जाते हैं। विदेशों के बारे में भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्न किये जाते हैं। इन सबमें जवाब देने वालों ने उनमें से किसी भी विषय का अनुभव या प्रत्यक्ष नहीं किया है। दूसरे लोगों से उसने सुना है अथवा अनुमान किया है, अन्य सब प्रकारों से जाना है परन्तु अनुभव नहीं है। दूसरा अपरोक्ष ज्ञान। साक्षात् अनुभव को भी लोक में ज्ञान ही कहते हैं। जैसे 'वह जानता है कि रसगुल्ला मीठा होता है', इस वाक्य के दो अर्थ होते हैं। उसने किताब में पढ़ा है कि रसगुल्ला मीठा होता है। जिसकी किताब पढ़ी है, वह आप्त पुरुष है, जिम्मेवार आदमी है, झूठ बोलने वाला नहीं है, इसलिये निश्चित जानकर कहता है कि रसगुल्ला मीठा होता है। परन्तु यह पता नही। कि उसने रसगुल्ले का स्वाद खुद लिया है या नहीं जिसने रसगुल्ला चखा है, वह भी कहता है कि मैं निश्चित जानता हूँ कि रसगुल्ला मीठा होता है। ठीक इसी प्रकार से परमात्म-विषयक ज्ञान भी दो प्रकार के हैं। शास्त्रकार कहते हैं—

'अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद परोक्षं ज्ञानमेव तत्।
अहं ब्रह्मेति चेद् वेद प्रत्यक्षं ज्ञानमेव तत्।।'

परमात्मा के विषय में युक्तियों से, शास्त्र से और अन्य अनेक प्रकार से निश्चय करना है कि परमात्मा है, यह परोक्ष ज्ञान है, प्रत्यक्ष नहीं है। और 'मैं ब्रह्म हूँ' यह प्रत्यक्ष अपरोक्ष ज्ञान है। चूँकि यह साक्षात् अनुभव है, इसलिये किसी की कही सुनी बात नहीं है।

एक बात याद रखनी चाहिये कि चाहे जितनी युक्तियों से, तर्कों से, दूसरे के कहने से, संगति से तुमको किसी चीज के विषय में निश्चय हो जाये, परन्तु

कोई चीज तर्कसंगत है तो अवश्य है. यह निश्चय नहीं होता है। बहुत बार ऐसा अनुभव होता है कि जिसके बारे में हम सारे तर्क और युक्तियों से जानते हैं कि ऐसा ही होना चाहिये और कह भी देते हैं, कि ऐसा ही है, उसी के बारे में बाद में पता चलता है कि बात वैसी नहीं है। क्योंकि इस संसार में अर्थात् जीव और जगत् दोनों में हर चीज युक्तिसंगत नहीं हुआ करती। अनेक चीजें जीवन में देखने में आती हैं जहाँ तर्क की कोई गति नहीं है। एक मोटा दृष्टांत है कि संसार में किसी चीज को ठंडा करते जाओ तो वह चीज भारी होती जाती है। वायवीय (gas) पदार्थों को जमा दो तो वे तरल होकर गैस की अपेक्षा भारी हो जाते हैं। जब तक जल वायवीय स्थिति में है तब तक तो वह बादल बनकर ऊपर उड़ता है और जब वह तरल बन जाता है तो नीचे बरस कर आ जाता है अर्थात् पहले गर्मी की अवस्था में भाप बना, भाप की अवस्था से तरल होकर ठण्डा होने पर भारी बना। इसी प्रकार संसार की सारी चीजें ठण्डी होने पर भारी होती हैं। इसलिये वे अपनी तरल अवस्था के अन्दर जमकर नीचे जाती हैं। हजारों चीजों को देखने पर निश्चय होता है कि चीज जमने पर भरी होती है। लेकिन एक चीज ऐसी है जो इस नियम को गड़बड़ कर देती है और वह प्रति दिन के अनुभव की चीज है। पानी ४ डिग्री तक ठण्डा होकर भारी होता है और जब ४ डिग्री से ज्यादा ठण्डा किया जाता है तो हल्का होने लग जाता है। इसलिये बरफ हमेशा पानी पर तैरता है। अगर तुम तर्क से संगति लगाओ कि सब चीजें ठण्डी होने पर भरी होती हैं तो पानी भी ठंडा होकर भरी होना चाहिये, तो वह अनुभवविरुद्ध होगा। बरफ बनकर ऊपर ही तैरता है, भारी नहीं होता। बात बड़ी सीधी है, कोई भी युक्ति या विचार नहीं कहेगा कि ऐसा क्यों होता है। परन्तु होता है और अनुभव है। जब ऐसा अनुभव होता है तो मनुष्य विचार करने लगता है कि ऐसा क्यों है? भौतिकशास्त्र (physics) और रसायन शास्त्र (chemistry) में पदार्थ के नियमों में इसका कोई कारण नहीं मिलता। ज्ञान इसके बारे में प्रकाश डाल सकता है कि ऐसा केसे हो सकता है। समुद्री प्राणी या नदी के प्राणी जल में रहते हैं। यदि पानी भारी होकर नीचे जाता तो नतीजा यह होता कि वे प्राणी उस बरफ के बोझ से दबकर मर जाते। इतना ही नहीं, वह बरफ जमकर नीचे जाता तो ऊपर का पानी और ज्यादा ठण्डा होकर जम जाता, इस प्रकार ऊपर से नीचे तक सब जम जाता। होता यह है कि समद्र के वक्षस्थल में जब पानी ४ डिग्री तक ठण्डा हुआ तब तक वह पानी

ही बना रहा। उससे ज्यादा ठंडा हुआ तो हल्का होने लगा। नीचे का पानी ४ डिग्री पर बना रहा, नतीजा यह हुआ कि ऊपर बरफ जमने पर भी नीचे के जल में रहने वाले प्राणी आनन्द से कल्लोल करते रहते हैं। वे बरफ के बोझ से दबेंगे नहीं और उन्हें नीचे पानी की कमी भी महसूस नहीं होगी। बरफ उन पर होने से नीचे का पानी ४ डिग्री से ठण्डा नहीं होगा, ऊपर का बरफ चाहे ऋण ३० डिग्री तक हो जाये, नीचे के प्राणी तो ४ डिग्री ठण्डे पानी में ही रह रहे हैं। यह बात कोई विज्ञान हमें युक्ति से नहीं बता सकता। जब अनुभव हो गया कि पानी का यह विलक्षण गुण है तब विचारपूर्वक निर्णय करते हैं कि ऐसा हो सकता है। ठीक इसी प्रकार अभेद और भेद के विषय में चाहे जितना युक्तिजाल बना लें, जैसे कुछ कुछ युक्तियाँ बताई थीं कि क्यों अभेद ही सच्चा होना चाहिये और भेद सच्चा नहीं हो सकता, लेकिन भेद नहीं होना चाहिये, एक बात है, इतने मात्र से अभेद सच्चा सिद्ध नहीं होगा। युक्ति से सिद्ध होने पर भी जब तक अनुभव का विषय नहीं होगा तब तक भेद नहीं है और अभेद ही सच्चा है, यह सिद्ध नहीं होगा। यद्यपि युक्ति से तो सिद्ध हो ही रहा है।

ज्ञान को अंतिम कसौटी पर कसा जाना अनुभव ही है। लोक में भी जिस चीज का अनुभव होता है उसके विषय में तुमको सन्देह नहीं रहता, उसकी व्याख्या चाहे जैसे करो। हर व्यक्ति अपने अनुभव को दूसरे को समझा नहीं सकता, युक्तिसंगत नहीं कर सकता परन्तु उसका अनुभव तो तब भी प्रत्यक्ष ही है। संसार में बहुत सी चीजें हैं जिनका चाहे जितना परोक्ष ज्ञान कर लें, जब तक अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता तब तक उसकी पूर्णता का पता नहीं लगता। जैसे धैर्य को ही लें, तितिक्षा पर विचार कर ही आये हैं कि कठिन से कठिन परिस्थिति में भी घबराना नहीं चाहिये। कोई व्यक्ति धैर्य के अनेक गुण, अनेक कारण बता कर सिद्ध कर सकता है कि धैर्य रखना चाहिये। परन्तु उसे धैर्य का कोई अनुभव नहीं है। अगर एक मच्छर उसके सामने 'घूं घूं' करने लगता है तो जब तक उस मच्छर को मार न ले तब तक उसमें धैर्य से बैठने की सामर्थ्य नहीं है। वह युक्ति से धैर्य को सिद्ध कर देगा, 'धैर्य' विषय पर चार घण्टे प्रवचन भी कर लेगा किन्तु 'धैर्य क्या है?' इसके बारे में कुछ नहीं जानता। इसी प्रकार बहादुरी या हिम्मत का विषय है। बहुत से लोग जब बहादुरी के बारे में बातें करते हैं कि 'हमारे देश में अमुक-अमुक लोग ऐसी गलती कर रहे हैं, उन्हें मारकर ठीक कर देना चाहिये।' तो हम उनसे कहते हैं 'किसी को जरा थप्पड़ मार कर देखो तो सही।' और अगर सामने वाला जरा मोटा तगड़ा है तो और ज्यादा मुश्किल होगा। एक चूहा भी उसके सामने आयेगा तो भागने लगेगा। इसलिये ऐसे लोग बहादुरी या हिम्मत के बारे में चाहे जितनी बातें कर लें वस्तुतः उन्हें बहादुरी का कोई प्रत्यक्ष या अनुभव नहीं है। परमात्मा के विषय में भी यही बात है। 'परमात्मा है' इसके विषय में सारा युक्तिशास्त्र अनेक बातों को कहता है, उससे यह तो निश्चय होता है कि परमात्मा होना चाहिये। परन्तु इतने मात्र से 'है' इसका जब तक अनुभव नहीं होता तब तक 'है' यह नहीं कहा जा सकता परन्तु यहाँ एक बात का ध्यान रखना चाहिये कि हमको उसका अनुभव हो ही, यह जरूरी नहीं है, परन्तु किसी को उसका अनुभव है और मुझे भी हो सकता है, ये दो बातें जरूरी हैं। अगर किसी चीज का आज तक किसी ने अनुभव नहीं किया और आगे भी उसका अनुभव नहीं हो सकता तो उस चीज पर कभी निष्ठा या दृढ विश्वास नहीं हो सकता।

आधुनिक पाश्चात्य जगत् में दो बड़े दार्शनिक हेगेल और कारकेगार हुए हैं। हेगेल ने परमात्मा के विषय में प्रचुर युक्तियाँ दीं। कारकेगार ने आक्षेप किया कि इस युक्जिाल मात्र से परमात्मा सिद्ध नहीं होता है। जब तक परमात्मा का साक्षात् अनुभव नहीं हो, जितना भी दर्शनशास्त्र बता दे, वह हमारे लिये किसी दूसरे जिम्मेवार व्यक्ति के अनुभव के आधार पर ही होने वाला ज्ञान बनता है। अनुभव को संगत करने के लिये दर्शन है।। अगर वह दर्शन अनुभव के विरुद्ध पड़ेगा तो उसे कोई स्वीकार नहीं कर सकता। परमात्मा के विषय में पुष्कल साहित्य इस बात का है कि लोगों ने परमात्मा का साक्षात्कार किया है। किसी एक राष्ट्र या एक काल या एक जाति के लोगों ने नहीं वरन् सारे संसार के अन्दर सर्वत्र सब कालों में ऐसे लोग हुए हैं जिन्हें परमात्मा का साक्षात् अनुभव हुआ है। उनका जीवन इस प्रकार का है कि उनकी बात पर संदेह करने का कोई कारण नहीं मिलता है। युक्तियों से जो परोक्ष ज्ञान होता है, उन लोगों के अनुभव से यह निश्चित ज्ञान होता है कि ऐसा ही है। उसके बाद वे उसके साधन बताते हैं कि अमुक-अमुक प्रकार से वहाँ पहुँचा जा सकता है। और तुम भी वहाँ पहुँच सकते हो जहाँ हम पहुँचे हुए हैं। वेद केवल यह नहीं कहता है कि परमात्मा को जानने वाला मुक्त हो गया वरन् वेद कहता है कि देवताओं में जो जानेगा उसकी मुक्ति है, मनुष्यों में जो जानेगा, उसकी भी मुक्ति है, जो भी इस प्रकार जान लेता है वह संसार के बंधनों से छूट जाता

है। **'तरति शोकमात्मवित्'** आत्मा के साक्षात्कार से मनुष्य शोक से पार हो जाता है।

यह अनुभव ब्रह्मविज्ञान को अन्य चीजों से अलग कर देता है। इसलिए आचार्य शंकर लिखते हैं–**'अनुभवावसाना हि ब्रह्मविद्या'** यह ब्रह्मविद्या अनुभव कराने के लिए है, केवल किसी युक्ति या दर्शन को बताने के लिए नहीं है। गीता में भगवान् भी इसीलिए कहते हैं

'ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परं।।'

जब यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो अज्ञान नष्ट हो जाता है और जैसे सूर्य का प्रकाश सब चीजों को स्पष्ट कर देता है वैसे ही उस 'पर' को वह ज्ञान स्पष्ट कर देता है।

इस अनुभव को प्राप्त करने के लिए यहाँ सारे ज्ञानसाधनों को बताया जा रहा है। परोक्ष ज्ञान तो तुमको इसके बारे में केवल युक्तियों को सुनकर हो जायेगा। 'यही सबसे ज्यादा तर्क संगत है' यहाँ तक परोक्ष ज्ञान तो करा दिया जायेगा, उसके लिए इस साधन की जरूरत नहीं पड़ती। बड़े-बड़े पण्डित, ब्रह्मविद्या के प्राध्यापक और दार्शनिक भी वेदान्त के विषय में खूब तर्क से बता सकते हैं। शंका होती है कि उन सबको यदि ज्ञान है तो आप हम लोगों को **'अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्'** इत्यादि बड़े मुश्किल ज्ञानसाधन कैसे बता रहे हैं? तुम लोगों को परमात्मा का प्रत्यक्ष साक्षात्कार कराने के लिए ही यह ज्ञानसाधना आवश्यक है। इसलिए आचार्य वाचस्पति मिश्र कहते हैं कि मनुष्य बहुश्रुत होने के लिए ब्रह्मसूत्र को पढ़ सकता है और समझ भी लेगा लेकिन वह बहुश्रुत होने के लिए है अर्थात् मैंने कितना पढ़ लिया इसे बताने के लिए है परन्तु उसका फल मोक्ष की प्राप्त तभी होगी जब साधनचतुष्टय होंगे। उनके बिना उसका फल सारे बन्धनों की निवृत्ति नहीं होगी।

इसीलिए भगवान् ज्ञानसाधनों को बताते हुए आर्जव, ऋजुता या सरलता को कहते हैं। स्वयं उपनिषद् कहती है

'तेषाम् असौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्मम् अनृतं न माया।'

इस परमात्मतत्त्व का अनुभव उसे हो सकता है जिसके अन्दर कुटिलता नहीं है और जो सरल है। प्रायः मनुष्यों को संसार के व्यवहार में लगे रहना

पड़ता है इसलिए उनके अन्दर सरलता नहीं पनप पाती। आचार्य शंकर लिखते हैं–

'अनेक-विरुद्ध-संव्यवहार-प्रयोजनकत्त्वाद् वक्रभावः अवश्यंभावी।'

जब अनेक विरुद्ध व्यवहार करने पड़ते हैं तो मनुष्य को उसमें कुछ-न-कुछ वक्रभाव लाना पड़ता है। ग्राहक से बात करने का ढंग अलग होता है, नौकर और पुत्र से बात करने का ढंग कुछ और होता है। अगर ग्राहक से नौकर जैसा व्यवहार करोगे तो थोड़े ही दिनों में दुकान बढ़ जायेगी। कई व्यापारियों के बारे में अनुभव होता है। घरवाली कहती है कि इनका व्यवहार तो बहुत तेज है। दूसरा व्यक्ति कहता है कि इनका व्यवहार तो इतना मीठा है कि जिसका कोई ठिकाना नहीं। पहले-पहल लगता था कि एक ही व्यक्ति के बारे मे इतनी विरुद्ध बात कैसे हो सकती है? शायद घरवाली ऐसे ही कहती होगी। आगे बहुओं से पूछते हैं तो भी वही कहती हैं। विचार करते-करते पता चला कि वह दिन भर बेचारा अपने ग्राहकों को खुश करने के लिए 'हाँ जी, हाँ जी' कहते हुए हँसता रहता है और उसके अन्दर भरा आक्रोश पत्नी और पुत्र-वधुओं पर खुलकर आता है। यही वक्रभाव है। इसलिए कहाँ कैसा व्यवहार करना है उसके अनुसार हमको वक्र बनना पड़ता है, सरल व्यवहार नहीं कर पाते। इस वक्रभाव और कुटिल व्यवहार के अन्दर निरन्तर हमको भेददृष्टि लानी पड़ती है। इस भेददृष्टि के पुष्ट होते रहने से अभेदरूप परमात्मा का ज्ञान नहीं हो पाता।

लोग भी तरह-तरह की कुटिलता वाले होते हैं। एक बहुत अच्छे सीधे सादे सेठ थे। किसी व्यक्ति ने सोचा कि इनको ठगा जाये। सेठ जी प्रातःकाल घूमने जाया करते थे और यह व्यक्ति भी घूमने जाता था। जब वह सेठ जी के सामने आये तो कहे 'रामजी राम'। सेठ जी भी रामजी राम का जवाब देते रहते थे। थोड़े दिनों में परिचय हो गया। एक दिन वह बड़ी सुन्दर छड़ी लाया और सेठ जी से कहा 'यह आपकी है, इसे आप रख लें।' सेठजी ने कहा 'यह मेरी नहीं है। उसने कहा 'नहीं जी, यह आपकी ही है। ऐसा है कि आप बड़े उदार और धर्मात्मा हैं, आपसे बात करके मैं बड़ा खुश हुआ। आज एक जगह मैंने बाजी लगाई मैंने विचार किया कि यदि इसमें जीत गया तो आपको एक सुन्दर छड़ी दूँगा। मैंने मन ही मन ध्यान किया और रोज आपका ही ध्यान करता

हूँ, क्योंकि भगवान् को तो हमने देखा नहीं इसलिये धर्मात्माओं का ही ध्यान कर सकते हैं, धर्मात्मा ही भगवान् हैं। उस समय भी मैंने आपका ध्यान किया और दो हजार रुपये की बाजी जीत गया इसलिये यह छड़ी लाकर आपको दे रहा हूँ।' कोई इतनी प्रशंसा करे तो मनमें थोड़ी प्रसन्नता हो ही जाती है? **'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये'।** सेठ जी ने सोचा, 'छड़ी रख लें।'

फिर कुछ समय बीत गया। अब की बार वह आदमी आया और कहा 'ये दो हजार रुपये आप ले लीजिये।' सेठ ने पूछा 'ये किस बात के।' उसने कहा 'एक विदेशी व्यापारी मेरे पास आया। उसकी एक चीज कहीं बिकी नहीं, मुझसे कहने लगा कि वह बहुत से शहरों में गया लेकिन वह चीज कहीं नहीं बिकी। लगता है शायद यह नहीं ही बिकेगी।' मैंने कहा 'अगर यह बिक जाये तो मुझे क्या दोगे?' उसने कहा 'इसके बिकने पर जितना फायदा होगा वह तुम्हें दे दूँगा और लागत में रख लूंगा।' मैंने मन ही मन आपका ध्यान किया और सोचा कि फायदे का २० प्र० श० आपको दूँगा।' उसी समय एक आदमी आया और उसने वह चीज पसंद कर ली और खरीद ली। व्यापारी ने फायदे के दस हजार रुपये मुझे दे दिये। इसलिये दो हजार रुपये आपके हैं। सेठ ने सोचा प्रेम से दे रहा है तो ले लेने चाहिये। ले लिये।

कुछ दिन बीत गये, एक दिन रोनी-सी सूरत बना कर आया और कहने लगा कि मैंने जीवन में आपके ध्यान से बहुत फायदा उठाया लेकिन आज एक काम के लिये मैंने आपका बड़ा ध्यान किया फिर भी मुझे पचास हजार का नुकसान हो गया। सेठ जी ने कहा 'हो ही जाता है।' उसने कहा-'हो तो जाता है लेकिन पचास हजार का नुकसान आपको देना पड़ेगा। आपके नाम का फायदा हुआ तो आपने ले लिया, अब नुकसान हुआ तो आपको देने भी पड़ेंगे। क्योंकि आपके नाम से ही नुकसान भी हुआ, इसलिये भरना पड़ेगा।' सेठजी ने कहा-'मैं नहीं दूँगा।' तब तक १०-२० लोग और इकट्ठे हो गये। सेठजी धर्मात्मा थे ही, स्वीकार किया कि छड़ी और दो हजार लिये थे। सबने कहा कि लाभ लिया तो हानि देनी भी पड़ेगी। अब बेचारे सेठ जी क्या करते। उससे बातचीत करके कहा कि 'पूरे पचास हजार तो नहीं पच्चीस हजार लेकर छुट्टी करो।' ऐसे-ऐसे कुटिल लोगों से मनुष्य को व्यवहार करना पड़ता है। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं कि अनेक विरुद्ध व्यवहार करने में मनुष्य को कुछ न कुछ

वक्रीभाव या भेद दृष्टि को लाना पड़ता है। इस प्रकार के वातावरण में जब किसी को व्यवहार करना पड़ेगा तो बिना भेददृष्टि या कुटिलता को लाये हुए कैसे व्यवहार चलेगा?

दूसरी तरफ अभेद ज्ञान के लिये तो हमेशा सरलता का ही व्यवहार करना आवश्यक है। उसमें दो चार घण्टे सरलता, बाकी समय कुटिलता से काम चल जाये यह तो होना नहीं है। हमेशा ही जब ऋजु व्यवहार करोगे तभी काम बनेगा। इसीलिये आचार्य शंकर कहते हैं **'आर्जवरहिता न मित्रतायोग्याः'** जो सरल व्यक्ति नहीं होते उन्हें कभी मित्र नहीं बनाना चाहिये। जैसे सेठजी ने कुटिल को मित्र बनाया तो धोखा खाया। सरल व्यक्ति की प्रवृत्ति हमेशा एकरूप ही होती है? ऋजुता का अर्थ बताते हुए आनन्दगिरि स्वामी कहते हैं

'यथा हृदयव्यवहारः सदा एकरूपप्रवृत्तिनिमित्तत्वं च।'

इसी सरलता को शारीरिक तप भी कहते हैं। जब अपने धर्म के पालन का समय आता है तो मनुष्य शरीर की तपस्या न होने के कारण हमेशा बहाने बनाता है, कुटिलता करता है ताकि उसे धर्माचरण न करना पड़े। आर्जव वाला पुरुष बहाने नहीं बनायेगा कि आज हमें बुखार आ गया, हम नहीं नहा पाये। चिकित्सकों ने मना कर दिया था। दूसरे दिन बुखार तो नहीं है परन्तु बुखार आने की सम्भावना हो सकती है। इसलिये कल भी स्नान नहीं करेंगे। पूछते हैं 'स्नान क्यों नहीं किया' तो कहता है 'तबियत ठीक नहीं है।' फिर पूछते हैं 'कल क्या खाया था ?' कहता है 'केवल तरल पदार्थ सूप ही लिया था।' 'आज क्या खाया?' 'दो फुलके खा लिये।' दो फुलके खाने के लायक तो शरीर ठीक हो गया लेकिन नहाने के लायक ठीक नहीं हुआ इस प्रकार की कुटिलता झट आ जाती है। इसलिये भगवान् ने इसे शारीर तप कहा। शरीर को तपाने वाला ही आर्जव-तप कर पायेगा।

एक गुजराती व्यक्ति भगवान् शंकर का बड़ा भक्त था। उसका विदेशों में व्यापार था। गुजरात में पहले से ही विदेशों से व्यापार चलता आया है। उन्होंने अपना नियम बना लिया कि आठ घण्टे काम करना है, तीन घण्टे स्नान-भोजन आदि कार्यों में लगाना, पाँच घण्टे सोना और आठ घण्टे भजन करना है। अर्थात् आठ घण्टे अर्थ के लिये और आठ घण्टे परमात्मा के लिये, बाकी आठ घण्टे सोना इत्यादि शरीर की आवश्यकता के लिये लगाने का उन्होंने जीवन में सर्वथा

नियम कर लिया था। भगवान् मनु ने प्रातःकाल यह ही सबसे पहला नियम बताया **'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय धर्ममर्थं च चिन्तयेत्'** अर्थात् मनुष्य प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में उठकर दो चीजों को सोचे कि मैं आज क्या धर्म करूँगा और क्या अर्थ कमाऊँगा। इसी के अनुसार उस व्यापरी ने धर्म और अर्थ दोनों के लिये बराबर समय आठ-आठ घण्टे बाँट दिया और बाकी समय जीवन-निर्वाह के लिये नियत कर दिया। वह ईमानदारी से काम करता था। क्रोध तो कभी करता ही नहीं था क्योंकि क्रोध करने से भेद-बुद्धि सबसे ज्यादा दृढ होती है। अपने ऊपर मनुष्य को कभी क्रोध नहीं आता। अपने से बड़ी से बड़ी गलती हो जाये तो उसका कोई न कोई कारण नजर आता है कि अमुक-अमुक कारणों से गलती हो गई। इसी को अंग्रेजी में rationalisation कहते हैं। दूसरे की गलती के अन्दर कोई कारण नहीं हुआ करता है, वह तो बात बनाया करता है। अर्थात् दूसरा यदि कहता है कि इस कारण से ऐसा हो गया तो कहते हैं, 'बात बनाते हो।' क्रोध मनुष्य तभी करता है जब भेददृष्टि इतनी प्रबल हो जाती है कि दूसरा भी कोई गलती किसी कारण से कर सकता है, इसे नहीं देखना चाहते। वह गुजराती व्यापारी कभी क्रोध न करते हुए दूसरे का हित करने की सोचता था, परहित-परायण था। विनय भी उसके अन्दर पूरी थी। इन गुणों के बढ़ते-बढ़ते उनकी परमेश्वरभक्ति भी बढ़ती चली गई।

एक दिन रसोइया भोजन बनाकर लाया तो उसने पाया कि साग में चीनी और मिठाई में नमक पड़ा है। खाते ही उसे विचित्र लगा। उसने रसोइये की तरफ देखा, रसोइये का चेहरा उदास था। भोजन तो सेठ ने शान्ति से किया। बाद में पता किया कि रसोइये को क्या कोई विशेष कष्ट है? पता चला कि उसकी पत्नी मरणासन्न थी, फिर भी कर्तव्य बुद्धि से वह अपने काम पर उपस्थित हो गया था। सेठ समझ गया कि इसी से उससे गलती हुई थी। उसने नौकर को कहा 'यह लो कुछ धन और जाकर अपनी पत्नी का इलाज कराओ। और आवश्यकता पड़े तो बताना। चिंता मत करो। वह स्वस्थ हो जाये तब काम पर लौटना।' वह भक्त था इसीलिये इतना विचार कर पाया, नहीं तो प्रायः गलती देखते ही नौकर को डाँटना स्वाभाविक होता है। विनयशील की यह दृष्टि होती है कि मैं ही ठीक हूँ ऐसा नहीं। इसलिये व्यवहार में वह सबसे—खुद अपने से व दूसरों से—एकरूप प्रवृत्ति कर सकता है।

कुछ समय बाद उसके गोदाम में रखा अनाज लूट लिया गया, बहुत नुकसान हुआ। उसने उससे दुःख नहीं माना। यही विचारा कि भूख से पीड़ितों ने अन्न लिया तो उचित ही किया। बल्कि ऐसे स्थल में जहाँ इतनी भूखमरी है, अन्नक्षेत्र खोलने चाहिये। बचे हुए गोदामों का अनाज उसने अन्नक्षेत्र में बँटवाना शुरू कर दिया। इस प्रकार की सिधाई— सीधे अकुटिल व्यवहार— से उसका आध्यात्मिक लाभ अत्यधिक हुआ और उसने कल्याणगति प्राप्त की। इस प्रकार सरलता — आर्जव — भी एक बड़ा जरूरी साधन है। ज्ञानसाधना में तो इसका बहुत ख्याल रखना चाहिये, नहीं तो अपने लिये विशेष पैमाने बनाकर हम अपना ही अहित कर लेंगे। और भी क्या साधन पालन करने चाहिये, इस पर आगे विचार करेंगे।

छह

ज्ञान का वास्तविक अभिप्राय है अनुभव। यद्यपि समझने के लिये ज्ञानों के अनेक भेद किये जाते हैं—प्रातिभज्ञान (intutive knowledge), बौद्धिक ज्ञान (intellectual knowledge), व्यक्ति का अपने मात्र में सीमित ज्ञान (subjective knowledge) स्मृति, संस्कार, भावना का ज्ञान (emotional knowledge) इत्यादि; तथापि यहाँ उस ज्ञान का प्रसंग है जो समूचे व्यक्तित्व के साथ सम्बन्धित होता है। अथर्ववेद कहता है 'जो मस्तिष्क और हृदय को एक साथ सी लेता है वही वस्तुतः उस तत्त्व को जान पाता है।' बुद्धि और हृदय को सर्वथा एक करना है। हृदय के ज्ञान का सम्बन्ध भावनात्मक ज्ञान से है। भावना संश्लेष करती है, बुद्धि विश्लेष करती है। बुद्धि का स्वरूप है चीजों को बाँटकर समझना, हृदय का समझना सब को एक करके देखना है। वर्तमान युग में लोग अंदर से श्रद्धा करना चाहते हैं, श्रद्धा का आलंबन चाहते हैं, पर कर नहीं पाते, उनका हृदय किसी चीज पर निश्चित हो नहीं पाता। यह ठीक है कि धर्म के नाम पर हम अनेक काम ऐसे करते हैं जिनसे लगता है मानो हममें श्रद्धा है। जन्म होने पर जातकशुद्धि करते हैं, विधिपूर्वक नामकरण, अन्नप्राशन, विवाह, अन्त्येष्टि आदि करते हैं। हृदय में प्रवेश किये बिना इन क्रियाकलापों को देखें तो लगता है हमें इन चीजों पर श्रद्धा है, विश्वास है। पर हृदय में प्रवेश करें तो पाते हैं कि यह सब करते हुए भी हम वस्तुतः एक मिथ्याचार में लिप्त हैं, वस्तुतः आंतरिक सद्भाव इन पर नहीं है। सामान्य व्यक्ति कह देता है 'अरे कभी न कभी तो मनुष्य को भगवान् याद आते है।' पर वह याद आना सामाजिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हो सकता है, उसका वास्तविक व्यक्तित्व से सम्बन्ध नहीं है। इसलिये ये कार्य करते हुए ही हमारा मिथ्याचार चलता रहता है। विवाह में हवन करते जरूर हैं पर चाहते हैं यह काम पण्डित जी जितनी जल्दी निपटा दें उतना अच्छा है। ऐसे ही मृत्यु आदि से सम्बद्ध क्रियाकलाप करते हुए ही हमारे मन में प्रश्न उठते हैं 'क्या इससे सचमुच कोई लाभ होगा? क्या यह दिया पिण्ड मेरे पितरों को मिलेगा?' बाह्य आचार क्योंकि हृदय से नहीं किया जाता इसलिये मिथ्याचार हो जाता है।

आज हमारे सामने मुख्य समस्या है कि हमारे मूल्य धुँधले हो गये हैं। किसे मूल्यवान्, अर्हावाला माने इस विषय में हमें कोई स्पष्टता नहीं है। हम विचार करते अवश्य हैं पर रहता वह संदिग्ध ही है (confused thinking)। हमारा विचार हमें निश्चय पर पहुँचाने की बजाये संदेह की स्थिति में ला खड़ा करता है। हमारे उद्देश्य, लक्ष्य सदा हिलते रहते हैं। हमारा जीवन किसी लक्ष्य पर केन्द्रित नहीं हो पाता। यही संस्कृति को नष्ट करता है। जैसे शरीर के अवयव (organs) ठीक हों पर आत्मशक्ति कमजोर पड़ जाये तो मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता, ऐसे ही संस्कृति की आत्मा ही संस्कृति के बने रहने का मूल है, रहस्य है। ऐसा लगता है आज यह मूल जीवन से उखड़ गया है। बुद्धि जीवनशक्ति को पुष्ट भी कर सकती है, उसे किसी यौक्तिक धरातल पर भी ले जा सकती है, पर बुद्धि में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह इस आत्मशक्ति का निर्माण करे। आज के युग की यह मुख्य समस्या है। उद्योग आदि क्षेत्रों में प्रगति यद्यपि दीखती है तथापि है वह खोखली! आचार्य सुरेश्वर कहते हैं। **'तरोरुत्खातमूलस्य स्पर्शेनेव यथा क्षयः।'** यदि किसी पेड़ की जड़ उखड़ चुकी है तो वह वृक्ष कुछ समय तक हरा-भरा भी दीख सकता है, उसमें फूल आते भी दीख सकते हैं, पर हवा के एक झटके से ही वह गिर जाता है। जब तक मूल प्रबल है तब तक चाहे जितने पत्ते गिरें वह पुनः हरा हो सकताा है। इसी प्रकार यद्यपि हम दीर्घकाल तक परतन्त्र रहे तथापि हमारा मूल क्योंकि हमसे अलग नहीं हुआ था, हमारा आत्मविश्वास डिगा नहीं था इसलिये समय आने पर हमारी संस्कृति का पौधा फिर हरा-भरा हो उठता था। हम ठीक हैं यह हमारा निश्चय था। असली हार तभी होती है जब व्यक्ति आत्मा से हार जाता है, अपने अन्दर शक्तिहीनता महसूस करने लगता है। अपनी श्रद्धा हिल जाने से ही हम दिक्शून्य हो गये हैं, हमारी कोई दिशा नहीं रह गयी है। कुछ भी विचार करने वाले व्यक्ति को अपना जीवन अर्थ- शून्य, प्रयोजनशून्य लगता है। हम कहाँ पहुँच रहे हैं? इसका कुछ भी बोध नहीं। संस्कृतियों के इतिहास के एक प्रसिद्ध पाश्चात्य अध्येता हुए हैं बर्ट्राण्ड रसल। वे कहते हैं 'किसी भी संस्कृति को उन्नति और अवनति की ओर ले जाने वाला वह अल्पसंख्यक समुदाय होता है जो बुद्धि आदि से समाज के अन्य अवयवों की अपेक्षा प्रबल होता है।' इसे ही वे 'प्रभावशाली अल्पसंख्यक' (dominant minority) कहते हैं। वही समाज को दिशा देता है। आज अधिकतर बुद्धिजीवी जिस साहित्य का निर्माण कर रहे हैं—और 'आज'

से गत सत्तर-पिचहत्तर वर्षों का काल समझना—उसमें अश्रद्धा का बीज ही बोया जा रहा है। मूल्यों में कितने संदेह हो सकते हैं यही उनका प्रतिपाद्य है। मनुष्य की प्रमुख आवश्यकता है श्रद्धा, इसे वे समझना ही नहीं चाहते। इतना ही नहीं, वे सम्भवतः यह भी नहीं जानते कि अधिकतर लोग आज भी श्रद्धा में ही जी रहे हैं। क्योंकि ये अश्रद्धालु लोग अल्पसंख्यक होने पर भी साहित्य आदि से अश्रद्धा का वातावरण बनाये हुए हैं इसलिये हमारे समग्र मूल्य, लक्ष्य हमसे दूर हो रहे हैं, संस्कृति का मूल उखड़ रहा है, शून्यवाद के पंजे दृढ हो रहे हैं। 'कुछ भी नहीं है'—यह जो विचार बनता जा रहा है उसी का यह फल है। तुरन्त जिससे लाभ हो वही कर्त्तव्य हो रहा है, वह चाहे किसी का अपहरण हो, मृत्यु हो, अन्य गुण्डागर्दी हो या आतंकवाद हो। सद्यः लाभ ही दृष्टि में रखना, 'आगे किसने देखा है।' यह आशा रखना—यही शून्यवाद का स्वरूप है जिसमें वस्तुतः कुछ भी मूल्यवान् नहीं। इसकी वृद्धि संस्कृति का क्षय है। सतही विचारक इसके पंजे में फँस जाते हैं। जीवन में प्रवेश करने की कला के बिना इससे आगे बढ़ना संभव नहीं। ज्ञानसाधना का मतलब केवल बुद्धि से विश्लेषण करना नहीं वरन् बुद्धि और हृदय को सर्वथा एक कर उस दृढ श्रद्धा की भूमि पर खड़ा होना है जो व्यक्ति, राष्ट्र और संस्कृति का निर्माण करे।

इसीलिये वेदान्त सिखाता है कि अपने अनुभव पर विचार करो पर श्रद्धापूर्वक। वेदांत में संसार के अन्य सब मत-मतान्तर व मजहबों से कोई विशेषता है। विज्ञान के इस बौद्धिक युग में वेदान्त का कोई विशेष सन्देश है। बाकी मत - मतान्तर अज्ञात वस्तु का विचार करते हैं, उसे नाम चाहे जो दें। इसलिये उसके विषय में विचार कर मनुष्य निर्णय पर नहीं पहुँच पाता। वेदांत की प्रक्रिया विलक्षण है। इसका कहना है कि पहले उसे देखा जाये जो ज्ञात है, जिसका हमें पता है। उसे समझ कर तब आगे अज्ञात का भी विचार करेंगे। जिस विषय को हम निश्चित जानते हैं, वह है अपना ज्ञान; 'मैं हूँ' इस विषय में सन्देह करने का कोई हेतु नहीं है। बाकी चीजों के विषय में चाहे जो विकल्प उठें पर यह तो कोई सोच भी नहीं सकता कि 'मैं नहीं हूँ।' पहले 'मैं हूँ', तभी सोच सकता है। बाकी किसी भी विषय पर संदेह किया जा सकता है पर 'मैं हूँ' इस पर कभी संदेह नहीं किया जा सकता। जब इस 'मैं' का विश्लेषण करते हैं तब क्योंकि अनुभव का आधार है इसलिये विचारभूमि दृढ है। 'मैं' क्या है—यह विचार कर पता लगाना है।

अनुभव में 'मैं' का प्रयोग विभन्न स्थितियों के लिये होता है। कभी 'मैं' का प्रयोग मन के लिये होता है—मैं सुखी हूँ, दुःखी हूँ। यहाँ सुखी-दुःखी मन है पर मैं उसके साथ एक हो गया। कभी इन्द्रियों के लिये 'मैं' का प्रयोग होता है— मैं देखने वाला हूँ, सुनने वाला हूँ। 'मैं गोरा हूँ, मोटा हूँ' आदि में 'मैं' का प्रयोग शरीर के साथ है। विचार इसका करना है कि यह 'मैं' सचमुच क्या है। देह, इंद्रिय, मन आदि सब मिलकर तो इसका स्वरूप हो नहीं सकता—क्योंकि इनके बदलते रहने पर भी मैं बदलता नहीं; अतः यह जानना है कि इसका वास्तविक स्वरूप क्या है। इसकी वास्तविकता का परीक्षण करना वहीं है जहाँ यह 'मैं' दीख रहा है, प्रतीत हो रहा है। जिस प्रकार यदि हमें रस्सी में साँप दीखा और संदेह हो गया कि यह साँप है या नहीं तो हमें रोशनी डाल कर वहीं देखना पड़ेगा जहाँ साँप दीख रहा है, उसी प्रकार 'मैं' के विषय में संदेह होने पर मैं का वहीं परीक्षण करना होगा जहाँ वह प्रतीयमान है। मिथ्यात्व का लक्षण करते हुए कहा गया है **'प्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिकनिषेधप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।'** प्रतिपन्नोपाधि अर्थात् जहाँ पर—जिस अधिकरण में—तुम्हें वस्तु की प्रतीति हो रही है। सामने पड़ी वस्तु के विषय में ही तुम्हें निश्चय हो रहा है कि वह साँप है। फिर किसी विश्वासी भले आदमी ने बताया 'अरे भाई! यह साँप नहीं है।' क्योंकि कहने वाला विश्वस्त है इसलिये होता हुआ प्रत्यक्ष भी अप्रामाण्य की शंका से ग्रस्त हो जाता है; मन में शंका आ जाती है 'क्या यह सचमुच साँप है?' पर इतने मात्र से यह निश्चय नहीं हो जाता कि यह साँप नहीं है, रस्सी है। जिसे अब तक प्रमा—ठीक ज्ञान—समझा था उस पर शंका होती है— 'क्या यह ज्ञान ठीक है?' शंका-निवृत्ति के लिये प्रकाश डाल कर, पास जाकर ध्यान से देखते हैं तब पता लग जाता है 'अरे! यह तो रस्सी है।' रस्सी का पता लगते ही निश्चय हो जाता है कि जहाँ हमें जो चीज जिस समय दीखी थी उसी जगह वह चीज न तब थी, न उसके पहले थी और न बाद ही में होगी। पर इस निश्चय के लिये तुम प्रवृत्त तब हुए जब किसी आप्त व्यक्ति ने, विश्वासी भले आदमी ने तुम्हें बताया कि वह साँप नहीं है। ऐसे ही मैं अपने आपको बद्ध देखता हूँ, सुखी-दुःखी पाता हूँ, गोरा-काला, ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि सब रूपों में प्रत्यक्ष कर रहा हूँ। वेद व गुरु, दोनों ही आप्त हैं, कहते हैं 'अरे यह सब तुम नहीं हो। तुम देहादि नहीं हो।' यह सुनने पर अपने अनुभव की प्रामाणिकता में शंका होती है जिससे विचार मे प्रवृत्ति होती है। विचार का कारण

संशय होता है। किन्तु यह संशय तभी होग जब हमें कहने वाले पर यह श्रद्धा होगी कि यह जो कह रहा है वह ठीक हो सकता है। व्यक्ति को पहले कभी झूठ बोलते सुना नहीं, इसकी बात मैं मानूँ इससे इसे कोई लाभ हो सकता हो ऐसा भी लगता नहीं। इसलिये इसकी बात विचार करने के लायक है। जब विचार में प्रवृत्त होता है तभी मनुष्य को सचमुच पता लगता है कि 'मैं' का स्वरूप क्या है। और जिसका पता लगता है वही बाकी सभी मत मतान्तरों में ईश्वर नाम से कहा गया है। सच्चिदानन्द परमात्मा के रूप में वर्णित किया गया वह तत्त्व शास्त्रप्रसिद्ध चाहे है, आज के युग में तो प्रश्न उठाया जाता है 'परमेश्वर को किसने देखा है?' यदि केवल कहें कि प्राचीन काल में वसिष्ठ, अर्जुन आदि ने देखा था, तो व्यक्ति सोचता है 'उन्होंने ने भले ही देखा हो, मैंने तो नहीं ही देखा है।' वेदान्त स्पष्ट कहता है कि तुम्हे इसमें तो सन्देह नहीं कि तुम स्वयं को देख रहे हो, जान रहे हो। उस अपने को ही, जिस स्वयं को तुम बद्ध समझ रहे हो, उसे ही तुम सही प्रकाश में देखो तो तुम समझ जाओगे वही सच्चिदानन्द परब्रह्म है। इसलिये आचार्य सुन्दर पाण्ड्य लिखते हैं

'अन्वेष्टव्यात्मविज्ञानात् प्राक् प्रमातृत्वमात्मनः।
अन्विष्टः स्यात् प्रमातैव पाप्मदोषादिवर्जितः।।'

विचार के पहले जिसे मैं बद्ध, प्रमाता, समझ रहा था वही विचार के बाद नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप पता चला, कभी भी वह बद्ध नहीं था यह मालूम पड़ा।

किसी आप्त की बात पर श्रद्धा करके ही इस ढंग से बढ़ते हुए परम सत्य तक पहुँचा जा सकता है। वेदान्त के अनुसार, पहले अपने आप पर श्रद्धा करो तब आगे अन्यत्र श्रद्धा हो सकेगी। स्वयं पर श्रद्धा न होने से चाहे जिस निश्चय पर पहुँचो, यह शंका हो ही जाती है 'यदि यह निश्चय गलत हुआ तो?', 'अगर किसी दूसरे ने इसे गलत सिद्ध कर दिया तो?'। यह अपने आप पर अश्रद्धा का ही फल है। भगवान् ने ज्ञान साधनों को बतलाते हुए **'आचार्योपासनम्'** कहा है। आचार्य का अर्थ भष्यकार आचार्य शंकर ने किया है **'मोक्षसाधनोपदेष्टुराचार्यस्य'** मोक्ष के साधन का उपदेशक ही यहाँ आचार्य है। लोक में कई विषयों के आचार्य हुआ करते हैं पर यहाँ —ज्ञानसाधना के प्रसंग में—सांसारिक ज्ञान देने वालों को आचार्य नहीं कहा जा रहा है। जो तुम्हें बद्ध

अवस्था से मुक्त अवस्था में ले जाने का मार्ग प्रशस्त करे वह यहाँ आचार्य है। उसकी उपासना करनी है। उपासना अर्थात् पास में बैठना ; लेकिन यह बैठना घुटने से घुटना सटा कर बैठना न समझ लेना। अपने हृदय और मन को आचार्य के समीप बैठाना यहाँ कहा जा रहा है।

गीता के दूसरे अध्याय में स्थितप्रज्ञ के लक्षणों का प्रसंग है। वहाँ शंकराचार्य ने प्रश्न उठाया है कि ज्ञानी के लक्षण बताने से किसका फायदा है? प्रश्न इसलिये उठता है क्योंकि हमारे आचार्य बड़े व्यावहारिक हैं। बेकार की बातों को वे महत्त्व नहीं देते। कौवे के कितने दाँत होते हैं?—यह जिज्ञासा बेकार के विचारों का प्रसिद्ध दृष्टान्त है, काकदन्तपरीक्षा, क्योंकि यह जानने से लाभ कोई नहीं। प्रयत्न उसके लिये करना चाहिये जिसमें कोई लाभ हो। ज्ञानी के लक्षणों को जानकर लाभ किसका? न ज्ञानी का,क्योंकि उसमें वे स्वयं हैं ही, और न अज्ञानी का, क्योंकि जब ज्ञान उसे होगा तब लक्षण आ ही जायेंगे व जब तक ज्ञान हुआ नहीं तब तक लक्षण जानकर भी वह करेगा क्या? तब भगवान् इन्हें क्यों बता रहे हैं? उत्तर देते हैं आचार्य

'सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि
यानि तान्येव साधनानि उपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात्।'

अध्यात्मशास्त्र अर्थात् तुम्हारे शरीर में होने वाले तत्त्व के विषय में जब विचार किया जाता है—और यह तत्त्व तुम खुद हो—तब ज्ञानी का जो स्वभाव बताते हैं, बिना प्रयत्न के उसकी जो विशेषता है, उसे ही लाने का प्रयत्न साधक को करना है। जब वे गुण स्वभावसिद्ध हो जायेंगे तब तुम ज्ञानी हो, जब तक उन्हें लाने की कोशिश करनी पड़ती है तक तक साधक हो। इसलिये ज्ञानी के लक्षण बताने का प्रयोजन है कि तुम उन्हें जीने लगो। इसी का नाम है आचार्योपासन। आचार्य के स्वभाव को स्वयं में लाते जाना— यही उसके पास बैठना है। इसलिये आचार्य शंकर कहते हैं **'उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम्।'** **'उपसीदेद्'** —विधिवत् गुरु के पास जाये। गुरु हो प्राज्ञ, जिसने स्वयं ज्ञान पा लिया है। भगवान् ने भी उपदेष्टा के लिये कहा-

'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।'

दोनों बाते कहीं—ज्ञानी और तत्त्वदर्शी। अध्यात्मशास्त्र में कहे साधन जब तक देख न लिये जायें तब तक किये जा नहीं सकते। जैसे चाहे जितना संगीतशास्त्र

का अध्ययन कर लो, जब तक किसी से शुद्ध स्वर सुनोगे नहीं और फिर खुद उन्हें अपने गले से निकालोगे नहीं तब तक गवैये नहीं बन सकते। यही हाल नृत्य का है। पैर, हाथ, आँख मुद्रा आदि के प्रयोग किसी नर्तक से साक्षात् ही सीखने पड़ेंगे। ऐसे ही अध्यात्मशास्त्र में साधनों को जीवन में ढालना है अतः ढला हुआ रूप देखे बिना कभी पता लगता नहीं कि क्या कैसे करना है। इसीलिये प्रायः ग्रंथ पढ़कर किसी असम्भव कल्पना से ग्रस्त होकर बताये गये साधनों को हम असम्भव ही मान बैठते हैं। इसीलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा

'श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः।'

शास्त्रज्ञ, अकुटिल, जिसे कामनाएँ पराभूत न करती हों ऐसा ब्रह्मवेत्ता गुरु होने के योग्य है। ऐसे आचार्य के गुणों का स्वयं में आधान करना ही आचार्योपासना है। केवल पास बैठे रहो, गुण अपने में लाओ नहीं तो उपासना नहीं होगी। यदि अपने जीवन को परिवर्तित करने के उद्देश्य से ब्रह्मज्ञानी के पास जाओगे तो चाहे जैसे हो, परिवर्तन आयेगा ही। जैसे पारस जिसे छूता है उस लोहे को सोना बना ही देता है। लेकिन छुए, तभी। यदि झीने से झीने कागज का भी व्यवधान होगा तो चाहे साल भर साथ रखे रहो, लोहा लोहा ही बना रहेगा। व्यवधान हटाकर ही स्पर्श करेगा तो लोहा सोना बनेगा। बिना व्यवधान के जब उपासना होगी, तभी गुरु का अलौकिक प्रभाव सामने आयेगा। आचार्य का अपूर्व असर होता है। श्री शंकराचार्य ने बताया है

'दृष्टान्तो नैव दृष्टस्त्रिभुवनजठरे सद्गुरोर्ज्ञानदातुः
स्पर्शश्चेत् तत्र कल्प्यः स नयति यदहो स्वर्णतामश्मसारम्।
न स्पर्शत्वं तथापि श्रितचरणयुगे सद्गुरुः स्वीयशिष्ये
स्वीयं साम्यं विधत्ते भवति निरुपमस्तेन चालौकिकोऽपि।।'

त्रिलोकी में कोई भी चीज ऐसी नहीं जो ज्ञानदाता गुरु के लिये दृष्टान्त बने। प्रसिद्ध उदाहरण पारस का है पर वह भी ठीक नहीं। पारस लोहे को सोना भले ही बना दे, पारस तो नहीं बनाता। गुरु तो अपने पर आश्रित शिष्य को वही सच्चिदानन्द बना देता है जो वह खुद है। इसलिये वह अलौकिक है, अनुपम है। किन्तु यह होगा तभी जब बीच में कोई व्यवधान न हो। हल्के से हल्की भी दूरी इस परिवर्तन को आने नहीं देगी। शिष्य में परिवर्तन होने की तीव्र इच्छा होनी चाहिये। यदि कोई दूसरी कामना पड़ी है तो यह परिवर्तन नहीं आ पाता।

पुराणों में कथा आती है—पाकयज्ञ नामक एक ब्राह्मण थे। उनका पुत्र था शशिवर्ण। किसी ऐसे मुहूर्त में उसका जन्म हुआ था जिसके कारण उसमें अधर्म की भावनाएँ ही भरी हुई थीं। शास्त्रों में पुत्रोत्पत्ति की विधि बतायी है। विद्वान् पुत्र, विदुषी पुत्री आदि जैसी सन्तान चाहो वैसी उत्पन्न करने के लिये क्या करना चाहिये यह विस्तार से बताया है। हम लोग पुत्रोत्पत्ति को यदृच्छादेवता(chance) का फल नहीं मानते। यह एक कर्तव्य है, धर्म है। किसी कारण से पाकयज्ञ ने नियमपूर्वक पुत्र पैदा किया नहीं इसलिये वह वेदद्रोही, शिवद्रोही, धर्मद्रोही, विपरीत आचरण वाला, आज्ञा न मानने वाला बना। अन्त में उसने एक चाण्डालिन से ब्याह कर लिया। भोगपरायण हो गया। महाराजा भर्तृहरि ने अपना अनुभव बताया है **'भोगे रोगभयम्'** भोग करोगे तो रोगी होना पड़ेगा। आजकल का चारों ओर का वातावरण देख लो, भोग बढ़ रहा है तो साथ ही रोग भी बढ़ रहे हैं। एक फर्लांग जाने के लिये भी मोटर चाहिये। नतीजा? पेट्रोल और डीजल के प्रदूषण से कैन्सर का रोग भोगना है। यदि नियम कर लो कि तीन मील तक जाना होगा तो सवारी का प्रयोग नहीं करोगे तो ही देखोगे प्रदूषण कितना घट जायेगा। लेकिन कोई नेता भी यह उपदेश नहीं देंगे क्योंकि उन्हें तो अपने आगे पीछे छह मोटरें चलानी हैं चाहे उनके धुएँ से स्वयं ही रोगी होना पड़े! शशिवर्ण भी भोगपरायण होने से भयंकर रोग से पीड़ित हो गया। सभी ने उसका परित्याग कर दिया। भोगियों की मित्रता भोग पर ही आश्रित होती है। तुम्हारे पास भोग के साधन समाप्त हुए और भोगी मित्रों की मित्रता भी समाप्त। तुम बीस साल तक शराब पिलाते रहो—cocktail party करते रहो—पर जैसे ही बन्द कर देते हो, 'अब मैं शराब नहीं पिला सकता', सारे पक्षी उड़ जाते हैं। दूरभाष करके बुलाओगे तो कहेंगे 'आज बहुत व्यस्त हैं।' भोगियों में आन्तरिक मित्रता कभी होती नहीं, हो सकती नहीं।

शशिवर्ण के पिता तो पुत्र के कष्ट से इतने परेशान हुए कि स्वयं भी मरणासन्न हो गये। एक देवभक्त नामक मुनि उनके पास आया करते थे। उन्होंने उससे उसका कष्ट पूछा। पाकयज्ञ ने कहा 'पुत्र के बचने का कोई उपाय दीखता नहीं यही बड़ा कष्ट है।' देवभक्त ने बताया 'चिन्ता मत करो। डरो मत। मैं तुम्हें अपनी और अपने पुत्र की रक्षा का उपाय बताता हूँ। गोपर्वत पर महानन्द नामक महाकारुणिक महायोगी रहते हैं, उनके पास जाओ। उनकी सेवा शुश्रूषा करो। वे ही तुम्हें बचायेंगे।' जब पाकयज्ञ ने शशिवर्ण को यह बात कही तो

जवानी के बाद से पहली बार उसके मन में आया कि पिता की बात मान लूँ। बाकी सब तो उसे छोड़ चुके ही थे, स्वयं भी वह बड़े कष्ट में पड़ा था। जीवन में दुःख का बहुत बड़ा स्थान है। दुःखी स्थिति में सद्बुद्धि भी आने की सम्भावना हो जाती है। किसी-किसी भक्त ने तो कहा ही है 'मेरे जीवन में हमेशा दुःख बना रहे जिससे आपकी विस्मृति न हो।' दुःखी व्यक्ति तुरन्त सहारा ढूँढता है। परमेश्वर का सहारा हर परिस्थिति में उपलब्ध रहता है, प्राप्त होता है। कोई परिस्थिति ऐसी नहीं जिसमें परमात्मा तुम्हारी मदद न कर सके, न करे। क्योंकि उस परमात्मा से अपने अभेद को जानता है इसलिए जो ब्रह्मज्ञानी है वह भी किसी की मदद न करे यह हो ही नहीं सकता। शशिवर्ण ने भी निर्णय किया 'यह जीवन तो व्यर्थ हो गया, अब जरूर पिता जी की बात मानकर इनके साथ चलूँ।'

वे लोग चलकर गोपर्वत पर पहुँचे। पहले वहाँ जो शिवमन्दिर है उसमें पूजा कर उसकी एक सौ आठ प्रदक्षिणाएँ की जिससे उनके कुछ पाप नष्ट हुए। अतः उन्हें महानन्द के सामने जाने का मौका मिला। वहाँ उपस्थित हो

'प्रणम्य दण्डवद् भक्त्या पाकयज्ञः कृताञ्जलिः'

पाकयज्ञ ने प्रणतिपूर्वक अपनी सारी परिस्थिति उन्हें बतायी। महानन्द अत्यन्त दयालु थे ही। अत्यधिक पापी भी शशिवर्ण को उन्होंने अपनी करुणादृष्टि से देखा। उन्होंने यह समझ लिया कि उसके मन में अपने किये पापों के लिए वास्तविक पश्चात्ताप था। शशिवर्ण को भी देखते ही महानन्द पर श्रद्धा हो गयी कि वे अवश्य उसकी रक्षा करेंगे। शशिवर्ण वहाँ रहते हुए शीघ्र नीरोग हो गया और उनकी सेवा करने लगा। एक दिन महानन्द के मन में आया 'मैं इसे अपना भुक्तशेष दे दूँ।' खये हुए से बचा हुआ भुक्तशेष कहाता है। वह खाते ही शशिवर्ण को मन में शान्ति का अनुभव हुआ। तदनन्तर उसे तत्त्वनिष्ठा का उपदेश मिला जिससे वह स्वयं मुक्त हुआ और अपने माता-पिता की वंशपरम्परा को उसने पवित्र किया।

'बुद्ध्यश हृषीकेश मम प्रसादात्
शिष्योऽपि मामात्मतयाऽपरोक्षम्।'

क्योंकि उसे अपरोक्ष साक्षात्कार हो गया था इसलिए उसके पितरों का भी उद्धार हो गया। यहाँ तक कि उसकी पत्नी का—चाण्डालिन का— भी स्वर्गगमन हो गया।

यह केवल एक शशिवर्ण की कथा मत समझना। प्रायः मनुष्य पाकयज्ञ ही है। अधिकतर लोगों का एक ही यज्ञ है भोजन पकाना। चूल्हा जलाने का वर्तमान काल में एकमात्र उद्देश्य है भोजन पकाना। पहले कम से कम औरतें चाहे कोई विधि न जानती हों, कुछ अन्न तो अग्नि को अर्पित कर ही देती थी, पर यह भी लोगों को सहन न हुआ। ऐसे चूल्हे का आविष्कार किया—गैस के चूल्हे का —जिसमें वह भी न किया जा सके। ऐसे ही गोग्रास की प्रथा चलती थी। अब सभ्य लोगों की बस्ती में कानूनन गाय रखना, गाय का आना, घूमना ही मना हो गया है। वही 'प्रभावी अल्पसंख्यक' निरन्तर प्रयासशील है हमारे मूल्यों को नष्ट करने के लिए। जब मनुष्य पाकयज्ञ होता है, केवल खाने-पीने को ही सब कुछ समझ लेता है तब उसे शशिवर्ण पुत्र प्राप्त होता है। शशी अर्थात् चन्द्रमा जो हमारे यहाँ मन का सूचक है। शशिवर्ण अर्थत् केवल मनमाना आचरण करने वाला जिसमें स्वभावतः वेदविरोध, धर्मविरोध आदि हो। मन को पूर्वज आदि की बातें मानना प्रिय लगता नहीं। यों जब यह भोगपरायण होता जाता है तब इसे रोगग्रस्त होना ही है। त्रिविध ताप इसे तपाते हैं। जब कष्ट असह्य हो जाता है तब इसमें श्रद्धा का अंकुर फूटता है। अब तक वह शरीर को —शारीरिक भेग को —ही सब कुछ समझता रहा। अब इसे पिंजड़ा समझ कर इससे छूटना चाहता है। तब देवभक्त मुनि बताते हैं इस शरीरकी— भोक्तृत्व की— निवृत्ति कहाँ और कैसे होगी। जो देव-भक्त है वही रास्ता बतला सकता है, दूसरा नहीं। वह कहता है 'गोपर्वत पर जाओं।' गो का अर्थ वेद भी है, ज्ञान भी। वेदों का जो शीर्षभाग—ऊपर का भाग अर्थात् उपनिषद्भाग; अथवा जो चरम ज्ञान है, परमात्मा का ज्ञान, उस गोपर्वत पर अर्थात् निरन्तर उपनिषदों में विचरण करने वाला जो महान् आनन्द है उसकी उपासना से ही तुम्हारी कृतकृत्यता होगी। उस परमानन्द को प्रकट करने के साधन वे बतलाते हैं। शुश्रूषा करने से पहले रोग दूर होता है। 'मैं बद्ध ही हूँ, बन्धन से निवृत हो ही नहीं सकता' यह मानना रोग है। 'मुझे इससे निवृत्त होने का मार्ग मिल गया है' यह रोग से छूटना है। अधिकाधिक उन गुणों को उपासना से अपने जीवन में लाने लगता है। तब भुक्तशेष प्राप्त होता है। जिस निर्विकल्प समाधि में वे निरन्तर रहते हैं उसका कुछ हिस्सा चखने को मिलता है। उससे जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब परमतत्व का अपरोक्ष भान होकर कल्याण होता है। इसीलिए आचार्योपासन को प्रधान साधनों में भगवान् ने गिना है।

सात

मनुष्य में सत्य के प्रति सहज आकर्षण है। सत्य को वह हमेशा समझना चाहता है, पाना चाहता है। सत्य का अर्थ है जो चीज जैसी वस्तुतः हो उसका वैसा ही ज्ञान होना। सत्य के प्रति इस आर्कषण के कारण ही सारे दर्शनों की प्रवृत्ति, सारे विज्ञान की प्रवृत्ति, सारे धर्मों की प्रवृत्ति है। यथार्थ, वास्तविक, सत्य को जानना चाहना ही इन प्रवृत्तियों का मूल है। दूसरी एक सहज मान्यता मनुष्य के हृदय में है कि सत्य आपस में विरुद्ध नहीं हुआ करते। अनुभव में चाहे जितने विरोध आयें, विश्वास हमारा यही रहता है कि सारे विरोधों का परिहार होने पर ही सत्य का प्रकाश होता है। इसीलिए धार्मिक, दार्शनिक व वैज्ञानिक नेता अपनी बात को बुद्धि, युक्ति और अन्य अनुभवों से संगत कर बतलाते हैं। वे केवल अपनी बात प्रकट कर देने मात्र से ही सन्तुष्ट नहीं होते, उसकी संगति व दूसरे अनुभवों से अविरुद्धता बताने का प्रयत्न होता है। चाहे धर्म का क्षेत्र हो या दर्शन का, ईश्वर को मानने वाले 'ईश्वर है' इतना कहकर नहीं छोड़ देते। 'ईश्वर कैसे है, क्यों है, वह युक्तिसंगत कैसे सिद्ध होता है ?' इत्यादि समझाने के लिए सदा प्रयत्न होता है। मनुष्य में निहित सत्य के प्रति प्रेम ही अन्वेषण का प्रयत्न करने को प्रेरित करता है। प्रत्येक अनुभव को संगत करने के लिए प्रयत्नशील करने वाली एक आन्तरिक शक्ति है। सत्य के प्रति यह अविरोध की दृष्टि ज्ञान-साधना में बड़ी प्रधान हो जाता है। चरम तत्त्वों के विषय में संगतिपूर्वक विचार करना उपनिषत् की दृष्टि में तपस्या है।

महर्षि वरुण के पास भृगु जाकर परमतत्त्व के विषय में जिज्ञासा करते हैं **'अधीहि भगवो ब्रह्मेति।'** 'मुझे बतावें वह परब्रह्मतत्त्व कैसा है।' महर्षि वरुण उत्तर देते हैं 'जिससे यह जगत् उत्पन्न होता है, जिसके कारण यह स्थित रहता है और अंत में जो इस संसार को अपने में लीन कर लेता है वह ब्रह्म है।' इतना कहने के बाद साधन बतलाया **'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व।'** 'हमने तुम्हें परमात्मा का चिन्तन कैसे किया जाये इसका सूत्र दिया, अब तुम अन्वय-व्यतिरेक द्वारा तप करोगे, विचार करोगे तो तुम्हें उसका पता लगेगा।'

अन्यत्र भी वेद कहता है **'तपो ब्रह्म।'** उस परम तत्त्व के बारे में अपने हृदय में सर्वथा ईमानदारी रखते हुए, सचमुच हम उस तत्त्व तक पहुँचना चाहते हैं ऐसी भावना रखते हुए जो पूज्य विचार किया जाता है, उसे हमारे यहाँ मीमांसा कहा गया है। बात समझने के लिये प्रयत्न है, इसके लिये नहीं कि वह कैसे सिद्ध न हो।

विचार करने के तरीके के कदम हैं। पहले यह निश्चय कर लेना आवश्यक है जिसका हम विचार करना चाहते हैं वह है क्या ? किस चीज को समझना चाहते हैं ? ऐसा निश्चय किये बिना जब विचार करते हैं, चाहे स्वयं चाहे अन्यों के साथ, तो कुछ कोटियों के विचार के बाद भूल ही जाते हैं कि बात चली क्या थी। विषय के निर्धारण के बाद विचारणीय संभावनाओं का निश्चय करना चाहिये। जिस तत्त्व तक हम पहुँचना चाहते हैं उसके विरोध में क्या कहा जा सकता है ? वकील केवल अपना पक्ष सिद्ध ही करने के लिये तत्पर होता है, वह सत्य का अन्वेषक नहीं। सत्यान्वेषक तो सभी पक्षों की परीक्षा के लिये उपस्थित होता है। प्रश्न समझ लेने पर वह उनके उत्तरों का विचार करता है। सब प्रश्नों का ठीक ठीक जवाब मिलने पर ही निर्णय होता है। जहाँ विचार किया जाता है वहाँ क्या अंग होने चाहिये — यह शास्त्रकारों ने बताया है

'विषयो विशयश्चैव पूर्वः पक्षस्तथोत्तरः।
निर्णयश्चेति सिद्धान्तः शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम्।।'

इस प्रकार का विचार ही निष्कर्ष पर पहुँचाता है और तभी वह विचार तप होगा। यदि इस तरह सारे विरोधों का अनुशीलन नहीं किया जायेगा तो निर्णय भी संभव नहीं। विचारपूर्वक जब तक किसी विषय में निर्णय नहीं होता तब तक मनुष्य उस विषय के अज्ञान वाला बना रहता है।

सारे पापों का मूल अज्ञान को बताया है। सभी धार्मिकों के, दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न आता हैं 'मनुष्य क्यों गलती करता है ?' बेसमझी गलती नहीं, जिसे गलत समझता है उसे जान बूझ कर करना यहाँ गलती है। और है यह मनुष्य की विशेष्ता। लोग कई बार कहते हैं कि एक न एक दिन कम्प्यूटर मनुष्य की तरह हो जायेगा। किन्तु ऐसा कभी होना नहीं। मनुष्य की यह विशेषता है कि जिसे गलत जानता है उसे करता है। कम्प्यूटर ऐसा नहीं कर

सकता, स्वयं में भरे नियमों के अनुसार ही चलेगा। कहोगे 'यह कोई अच्छी बात तो नहीं है।' किन्तु है यह बहुत अच्छी बात। जहाँ गलती करने की संभावना है वहीं अच्छा करने का महत्त्व है। नौकर आज्ञा मानता है क्योंकि उसे वेतन लेना है, यदि आज्ञा नहीं मानेगा तो तुम उसे नौकरी से निकाल दोगे। इसलिये नौकर की आज्ञाकारिता उसकी कोई खास विशेषता नहीं है। पुत्र आज्ञाकारी है तो उसकी विशेषता है क्योकि वह आज्ञा माने न माने सम्पत्ति पर उसका अधिकार बराबर ही है। पुत्र किसी लोभ से नहीं वस्तुतः तुम्हारे प्रति सद्भाव से, प्रेम से, स्नेह से तुम्हारी बात मानता है। नौकर बात मानता है तो भी प्रेम से नहीं। बहुत बार लोग यह समझते नहीं, कहते हैं 'लड़के बात नहीं मानते, इनसे तो नौकर अच्छे, बात तो मानते हैं।' पर पता लगाना हो तो कुछ दिन वेतन बंद कर के देखो, पता लग जायेगा कितनी बात मानते हैं। किन्तु पुत्र यदि आज्ञाकारी है तो चाहे तुम्हारा सब कुछ लुट जाये तो भी वह तुम्हारा साथ नहीं छोड़ेगा, आज्ञा में रहेगा। इसी तरह केवल दण्ड के भय से जीव परमात्मा की आज्ञा माने — यह परमात्मा नहीं चाहता। वह जीव से प्रेम चाहता है, प्रेम से वह आज्ञाकारी हो यह चाहता है। इसे ही अहैतुकी भक्ति कहते हैं। परमेश्वर से हमें कुछ मिलेगा इसलिऐ नहीं, वह हमारा है इसीलिये उससे प्रेम करना है। मनुष्य में यह स्वातन्त्र्य है कि वह चुनाव कर सकता है। इसीलिये यह प्रश्न उठता है : वह क्यों गलत चुनाव करता है ?

बाकी मत-मतान्तर गलती के लिसे किसी बाहरी शक्ति को जिम्मेदार मानते हैं। कोई उसे डेविल कहते हैं, कोई शैतान, कोई अहिंमान ; पर सब समझते हैं कि वह शक्ति जबर्दस्ती गलती कराती है। किन्तु सनातन धर्म कहता है कि जबर्दस्ती कराने वाली चीज हम से अत्यंत भिन्न कुछ नहीं है। यदि कोई बाहरी शक्ति जिम्मेदार हो तो फिर मनुष्य का सहज स्वभाव और प्रेम कहाँ रहा ? अतः मनुष्य के समग्र दोषों का, पापों का कारण अज्ञान है। यह अज्ञान ज्ञान से ही हटता है। अतिधन्य वेद ने घोषणा कर दी **'विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः'** — जब उस तत्त्व को जान लेता है तो बंधन करने वाले नाम-रूप से छूट जाता है। जो चीज ज्ञान से हट जाती है वह सच्ची नहीं हुआ करती, मिथ्या होती है — **'ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वम्'**। क्योंकि परमात्मा का ज्ञान होने पर 'मैं बद्ध हूँ' यह हट जाता है इसीलिये संसार का बन्धन मिथ्या कहा जाता है। ज्ञान से हटने का मतलब उसके कारण सर्वथा हट जाना **'ज्ञानप्रयुक्तावस्थिति-**

सामान्यविरहप्रतियोगित्वम्'। अगला ज्ञान आने पर पहला ज्ञान हट जाता है पर इतने से वह मिथ्या नहीं हो जाता क्योंकि वहाँ दूसरे ज्ञान ने ज्ञान होने के कारण पहले ज्ञान को नहीं हटाया। यदि ज्ञान की जगह इच्छा भी आ गयी होती तो पहला ज्ञान हट ही जाता। जहाँ हटने की घटना ज्ञान इसलिये करता है कि वह ज्ञान है, वहीं कहा जाता है कि वह वस्तु ज्ञान से हटी है। निवृत्ति भी दो प्रकार की होती है — सावशेष और निरवशेष। घड़ा फोड़ो तो वह मिट्टी में मिल जाता है। यहाँ घड़ा नष्ट तो हुआ, पर उसका कारण बच गया। यही सावशेष नाश है। रस्सी दीखने से जो साँप का नाश है वह निरवशेष है, वहाँ साँप के कोई टुकड़े मिलते नहीं, उसके कारण का, रस्सी न जानना रूप अज्ञान का— भी नाश हो जाता है। अवस्थिति दो प्रकार की होती है **'स्वरूपेण कारणात्मना च'** कार्यरूप से और कारण रूप से; उस दोनों प्रकार की अवस्थिति का न होना यहाँ विवक्षित है। ऐसी निवृत्ति हो कि कार्य का कोई भी हिस्सा, और उसका कारण भी बच न जाये। यह निवृत्ति भी वहीं होनी है जहाँ उस वस्तु की प्रतीति है। मैं बद्ध हूँ, कर्ता-भोक्ता हूँ, सुखी-दुःखी हूँ आदि अनुभव जिस 'मैं' में हो रहे हैं उसे ही समझना होगा कि मैं यह सब कुछ नहीं, अद्वितीय तत्त्व ही है। अपरोक्ष साक्षात्कार ही अज्ञान को हटाता है।

वेदान्त की दृष्टि में सभी दोषों का मूल अज्ञान है। यद्यपि 'परमात्मा से भिन्न कुछ है यह मूलाज्ञान तो अंत में निवृत होगा तथापि छोटे छोटे अज्ञान, जो मनुष्य से गलती कराते हैं, पहले निवृत्त किये जा सकते हैं। जो जो अज्ञान निवृत्त होगा उस उससे प्रेरित गलती भी होगा नहीं, क्योंकि शैतान आदि कोई बाहरी ताकत नहीं, हमारा अज्ञान ही हमारे दोषों का कारण है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं

'क्षुधया पीड्यमानोऽपि न विषं स्यत्तुमिच्छति।'

मनुष्य चाहे जितना भूखा हो, यदि उसे पता है कि इस लड्डू में ऐसा जहर है कि वह उसे खाते ही मर जायेगा तो वह उसे नहीं खाना चाहता। यदि उसे अज्ञान है तब तो खा लेगा। वेद हमारे अज्ञान को दूर करने के लिये ही है।

आचार्योपासन के बाद अगला साधन है शौच। शौच अर्थात सफ़ाई, पवित्रता। अशुचि का कारण भी अज्ञान ही है। मनुष्य जानता नहीं कि मैं पवित्र हूँ। यदि वह जाने कि मैं वह हूँ जिसके कारण अपवित्र से अपवित्र वस्तु पवित्र

हो जाती है तो कभी उससे अपवित्रता का आचरण नहीं होगा। कई बार लोग कह देते हैं 'मन की पवित्रता होनी चाहिए, शरीर की पवित्रता में क्या रखा है।' एक कहावत भी बना रखी है मन चंगा तो कठौती में गंगा ! पर ऐसा कहने वाले को ही उस 'गंगाजल' से आचमन कराना चाहो तो वह भागता नजर आयेगा। किसी बोतल के ऊपर यदि मल का — विष्ठा का— लेप है तो उसमें चाहे गंगाजल ही क्यों न हो, क्या उसे कोई पियेगा ? शरीर को हम इसीलिये अपवित्र कर देते हैं क्योंकि हमें अपनी पवित्रता का ज्ञान नहीं। आजकल व्यापार में सुनते हैं बीस प्रतिशत खर्चा ऊपरी बँधाई (packing) का होता है। चीज का दाम सवाया या ड्योढ़ा भी हो जाये तो सह लेते हैं पर बँधाई सुन्दर चाहते हैं। पर खुद अपने विषय में इससे उल्टा कहते हैं— शरीर की पवित्रता से क्या आता जाता है ! शौचाचार बताते हुए प्रधानरूप से तीन बातें कहीं —

'अभक्ष्यपरिहारश्च संसर्गश्चाप्यनिन्दितैः।
स्वधर्मे च व्यवस्थानं शौचमित्यभिधीयते।।'

पहली चीज है अभक्ष्य का परिहार। नहीं खाने लायक चीजों को न खाना। वैदिक ऋषियों ने प्रयोगपूर्वक सिद्ध किया है कि अन्न से ही मन का निर्माण होता है **'अन्नमयं हि सोम्य मनः।'** भाषा में भी इसीलिये कहते हैं 'जैसा खावे अन्न वैसा बने मन।' खाने की पवित्रता न रखने से मन में यह सामर्थ्य ही नहीं आयेगी कि वह परमात्मा का साक्षात्कार कर सके। अन्न की पवित्रता में उस साधन की पवित्रता की बहुत अधिक प्रधानता है जिससे वह अन्न प्राप्त होता है। इसलिये पुराणकार कहते हैं

'सर्वेषामेव शौचानमार्थशौचं विशिष्यते।
योऽर्थेशुचिः शौचान्न मृदा वारिणा शुचिः।।'

जो साधन की — धन की — अशुद्धि वाला है उसकी शुद्धि मिट्टी पानी से होगी नहीं। जिस धन से अन्न प्राप्त करते हैं वह धन शुद्ध हो यह बहुत जरूरी है। आज इस प्रसंग में ठीक उल्टा हो रहा है। पहले आदमी खाने-पीने और घर के काम के लिये ठीक कमाई का पैसा प्रयोग करता था, गलत पैसे को खाने-पीने के काम में नहीं लेता था। दानादि के लिये भी गलत ढंग से कमाये धन का ही प्रयोग करता है। परमात्मा का अपरोक्ष साक्षात्कार उत्पन्न न हो पाने में यह मुख्य कारण है।

काशी में एक यशस्वी ब्राह्मण रहते थे माण्टि। भगवान् शंकर के वे परम भक्त थे। उन्हें कोई पुत्र नहीं था। पुत्र की प्राप्ति के लिये उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की। वे आशुतोष हैं ही, जल्दी प्रसन्न हो जाते हैं। उन्होंने उसे एक बड़े ही योग्य पुत्र का वर दे दिया। माण्टि की पत्नी थी चटिका। वह भी पतिव्रता तपस्विनी थी। कुछ समय में उसने गर्भ धारण किया किन्तु गर्भधारण के बाद ४ वर्ष बीत गये, पर बच्चा गर्भ से बाहर आया ही नहीं। अन्त में माण्टि ने जाकर बच्चे से ही पूछा—क्योंकि सामर्थ्य वाले थे—'तुम्हारी माता इतने नियमों से रहने वाली है और तुम उसके इतने कष्ट का कारण बन रहे हो, बात क्या है ? मनुष्य जीवन दुर्लभ है। तुम्हें वह प्राप्त भी हो गया पर तुम उसका बाहर आकर प्रयोग नहीं कर रहे, भीतर ही अटक गये; क्यों ?' बच्चे ने भीतर से ही जवाब दिया 'कालमार्ग और अर्चिमार्ग दो रास्ते हैं। मुझे कालमार्ग से बड़ा भय है। जैसे ही जीव गर्भ से बाहर आता है वैसे ही वैष्णवी माया का ऐसा झोंका लगता है कि गर्भ के सारे अनुभवों को वह भूल जाता है। गर्भ में उसे अनेक पूर्व जन्मों की याद आती है। वह देखता है कि उसने जन्म-जन्मान्तर में अनेक दुष्कर्म किये जिनके फल-स्वरूप उसे गर्भपीडा भोगनी पड़ रही है।

'आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः।
जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः।।'

अब यह सब देखता है तब निश्चय करता है :

'यदि योन्याः प्रमुच्येहं तं प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्।।'

जब योनि से बाहर आऊँगा तब उस परम महेश्वर की शरण लूँगा, जो सारे अशुभों का नाश कर देता है। ऐसा निश्चय गर्भ में करता है। पर जैसे ही गर्भ से बाहर आता है वेष्णवी माया का झोंका लगता है जो इसे भुला देती है। यदि हर व्यक्ति को अपनी गर्भस्थ प्रतिज्ञा याद रहे तो भगवान् विष्णु की लीला चले कैसे ? अतः संसार की स्थिति रखने वाली वैष्णवी माया इसे भुला देती है। माण्टि का वह गर्भस्थ पुत्र कहने लगा 'मुझे इसी बात का भय है, इसी से मैं बाहर नहीं आ रहा। यदि मुझे निश्चय हो जाये कि वह माया मुझे कल्याणमार्ग से डिगायेगी नहीं, तो मैं बहार आऊँ।'

माण्टि ने विचार किया कि यह कार्य तो भगवान् शंकर ही कर सकते हैं। उसने पुनः उनसे प्रार्थना की 'भगवन् आपने ही मुझे पुत्र दिया है और अब

यदि वह पुत्र उत्पन्न ही नहीं होगा तो माता के लिये बोझ के सिवाय और क्या होगा ?' भगवान् ने अपने ज्ञानरूप गण को कहा 'तू जाकर उस बालक को दिलासा दे कि तू उसका साथ नहीं छोड़ेगा।' ज्ञान ने आकर बच्चे से कहा 'वैष्णवी माया के संपर्क होने पर भी तू मुझे भूलेगा नहीं, मैं तेरे साथ रहूँगा। यह भरोसा पाकर वह बालक गर्भ से बाहर आ गया किन्तु फिर भी भय से काँप रहा था। ज्ञान ने कहा 'अरे मुझसे दिलासा पाकर भी यह काल से भय खा रहा है इसलिये इसका नाम कालभीति है।'

लड़का बड़ा हुआ। उसके उपनयनादि संस्कार हुए। पिता ने उसे **'ॐ नमः शिवाय'** मंत्र की दीक्षा भी दे दी। वेद का अध्ययन भी उसने कर लिया। फिर तीर्थाटन करते हुए वह स्तम्भतीर्थ में पहुँचा। वहाँ उसका मन रम गया। उसने निश्चय किया 'मैं सौ वर्षों तक अन्न-जल कुछ ग्रहण न कर केवल परमात्मचिन्तन में ही रत रहूँगा।' वह सौ वर्षों तक शिवपूजन, रुद्रावर्तनादि कार्य में ही लगा रहा। जब सौ वर्ष पूरे हुऐ तो एक अज्ञात पुरुष पानी से भरा घड़ा लेकर वहाँ आया। उसने कहा 'अरे तुम बहुत प्यासे लग रहे हो, पानी पी लो।' यद्यपि कालभीति सौ वर्ष की प्यास से बहुत प्यासा था ही, एक बूंद पानी भी उसके लिये अमृत के जैसा था, तथापि — उस स्थिति में भी — उसने पुरुष को अज्ञात देखकर उससे पछा 'आप अपनी जाति और आचार बतावें तब मैं आप से पानी ग्रहण करूँगा।' उस पुरुष ने कहा 'मेरे माता व पिता दोनों ही अज्ञात हैं। रहता मैं सहज भाव से हूँ अतः मेरे आचार का भी नियम नहीं। जब जैसा होता है तब वैसा ही कर लेता हूँ। अतः न मेरी जाति है और न ही कोई आचार है।' उस प्यासी अवस्था में भी कालभीति ने कहा 'तब क्षमा कीजिये।' जिसका रक्त शुद्ध नहीं होता उससे अन्न-जल ग्रहण करने का नियम नहीं है। अच्छी जाति का भी हो, रक्त शुद्ध भी हो, पर शिव ज्ञान और शिवाचार से रहित हो तो उससे भी अन्न-जल ग्रहण नहीं करना चाहिये। घड़ा यदि गंगाजल से भी भरा हो और उसमें बूँद भर भी शराब पड़ जाये तो सारा पानी अग्राह्य हो जाता है। ऐसे ही जो अन्न शिवार्पण नहीं किया गया हो, वह चाहे जितने अच्छे ढंग से तैयार किया गया हो उसमें अशुचिता रहती ही है। इसीलिये अपने यहाँ भेजन बनने के बाद पहले परमेश्वर को भोग लगाते हैं, तब खाते हैं। अब तो ऐसे विपरीत स्थल बन गये हैं जिन्हें होटल कहते हैं जहाँ परमेश्वर को अर्पण करने का प्रश्न ही नहीं उठता। और विचित्र बात तो यह है कि वहाँ खाने को लोग अच्छा समझते

हैं ! जिसे किसी कारण घर में खाने को न मिले, कहीं यात्रादि के प्रसङ्ग में साधनहीन होने से वह होटल में खा लेवे तो बात कुछ समझ भी आये। अपने घर में भोजन की कोई कठिनाई न होने पर भी कहते हैं 'वहाँ शौक के लिये खाने जाते हैं।' कालभीति तो वैसी भयंकर परिस्थिति में भी जाति ओर आचार ठीक न होने से अन्न-जल ग्रहण करने को तैयार नहीं था।

वह अज्ञात पुरुष हँसा और 'बोला, अरे कैसी बात कर रहे हो ! सब में वह एक शिव ही तो बैठा हुआ है। शरीर में तो कोई भेद सिद्ध नहीं होता। और यदि शरीरों का भेद कहो तो वे तो सब मिट्टी से बने हैं। जिस मिट्टी से तुम्हारा शरीर बना उसी से मेरा भी बना है। इसलिये न शरीरों में भेद है न शरीरी में। फिर तुम किस भेद की चर्चा कर रहे हो ?' कालभीति ने उत्तर दिया 'अन्दर रहने वाला शिव एक है — यह बात भी ठीक है। पर व्यवहार जिस चीज से किया जाता है उसका भेद तो सबको मानना पड़ता है। मिट्टी रूप से एक होने पर भी गेहूँ चावल ही खाते हैं, मल पत्थर आदि तो नहीं। जैसे सोना एक ही है, फिर भी कोई सौ टंच का है कोई साठ टंच का है, कोई बीस टंच का है, इनमें बीस टंच वाले को सौ इंच का तो नहीं मान लेते। सोना-सोना एक जैसा मानकर दोनों का एक भाव तो नहीं रखते। इतना ही नहीं, एक ही सोने से बनाया हार हाथ में नहीं पहनते और चूड़ी गले में नहीं लटकाते। यह ठीक है कि गला देने पर, मल निकाल देने पर वह सोना शुद्ध का शुद्ध बना रहता है, पर जब तक व्यवहारयोग्य किसी रूप में है तब तक उसके योग्य ही उससे व्यवहार होता है। जब कहा जाता है सोना एक ही है तब मतलब है कि सब रूपविशेषों से रहित, खोट से रहित सोना एक ही है। इसी तरह जब हम अपने आचरणों को, मन की वृत्तियों को शुद्ध कर देंगे और परमात्मा के साक्षात्कार से अपने आवरण को भंग कर देंगे तब केवल अखण्ड अभेद बच जायेगा। जिस शरीर व मन द्वारा साधना करनी है यदि उसमें अशुचिता रहेगी तो वह ज्ञान कहाँ से हो पायेगा ?'

उसकी इस बात को सुनकर उस अज्ञात व्यक्ति ने अपने पैर के अंगूठे से एक गड्ढा करना शुरू कर दिया। खोदते-खोदते एक तालाब बना दिया। उसमें उसने घड़े का पानी उलट दिया जिससे वह तालाब पूरा भर गया। तब उसने कहा 'तालाब के पानी में तो कोई दोष नहीं, इसे ग्रहण करो।' कालभीति

ने कहा 'यह तो कोई भूत-प्रेत विद्या लगती है, इससे मैं प्रभावित होने वाला नहीं।' उसकी इतनी निष्ठा देखकर वह पुरुष वहीं अन्तर्धान हो गया। कालभीति चमक कर देखने लगा कि यह पुरुष कहाँ गया तो देखता है वहाँ वटवृक्ष के नीचे एक महान् शिवलिंग उपस्थित है। कालभीति सोचने लगा 'अरे उसने कहा था कि मुझे मेरे माता-पिता ज्ञात नहीं।' एक मात्र परमेश्वर ही है जिसका जन्म न होने से उसके माता-पिता नहीं होते। और सभी विधि-निषेधों से परे साक्षिरूप होने से वह सबके प्रति समभाव से रहता है इसी से वह किसी आचार वाला भी नहीं।' उसके मन में श्रद्धा हुई और उसने जाकर लिंग को प्रणाम किया। तभी पुष्पवृष्टि हुई और लिंग से उसके प्रति प्रशंसा के वचन निकले। अशरीरी वाणी ने बताया कि उस घड़े में सब तीर्थों का जल था अतः उस तालाब में सभी तीर्थों का जल है। कालभीति की निष्ठा से प्रसन्न होकर उसे गाणपत्यपद प्रदान कर दिया गया। कालभीति महाकालरूप गण बनकर भगवान् शंकर के नित्य अनुचर हो गये।

शुचि का व्यवहार जब मनुष्य सब परिस्थितियों में करता है तभी स्थिति प्राप्त होती है।

हम सभी काल से भय खाने वाले कालभीति ही हैं। किसी को कह भर दो 'तुम्हारा काल पूरा हो रहा है'; सुनने के साथ ही आदमी काँपने लगता है। भय खाने पर भी उस काल को कालभीति की तरह हम लोग याद नहीं रखते। आज-कल प्रायः लोग घड़ी हाथ में पहनते ही हैं। हम कई बार एक साधना बताते हैं 'जब घड़ी देखो तो याद करो जीवन का इतना समय कम हो गया। यह मत देखो कि छह बज गये, यह देखो कि पिछली बार घड़ी देखी थी तब से इतने मिनट बीत गये, जीवन के इतने मिनट घट गये।' पहले संस्कृतविद्या की पहली पोथी में सिखला देते थे

'गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्।'

चोटी पकड़ कर मृत्यु खड़ा है ऐसा याद रखकर धर्म का आचरण करो। आज-कल कान्वेण्ट स्कूल में बच्चों को भेजते हो, वहाँ यह नहीं पढ़ाया जाता। वहाँ बिना मतलब की बातें रटाते हैं

'Humpty dumpty sat on a wall
Humpty dumpty had a great fall.'

'एक मोटा बच्चा दीवार से गिर पड़ा।' कोई तात्पर्य नहीं, कोई प्रयोजन नहीं। याद करने का श्रम बराबर है, फायदा कुछ नहीं। कालभीति ने काल का पराक्रम याद रखा इसी से वह शौचाचार पर दृढ़ रहा। पवित्रता और मानसिक दृढता व वैराग्य उसमें रहे। जब शारीरिक शुचिता पर जोर दोगे तब मन में दृढ़ता आयेगी। प्रायः शरीर की शुद्धि को मामूली चीज समझकर हम उपेक्षाशील हो जाते हैं। जब काम-क्रोध आदि बड़ी अशुचिता हटाने की बात आती है तब कह देते हैं 'यह बहुत कठिन काम है।' जैसे जो कहे 'पूड़ी मुझे हजम नहीं होती, खिचड़ी मुझे भाती नहीं' उसे पुष्टि के लिए क्या साधन बताया जाये ? ऐसा ही यह कहना है 'काम-क्रोध पर विजय मैं कर नहीं पाता और सामान्य शौचाचार का फायदा कुछ नहीं।' कालभीति ने ऐसा नहीं किया। जब मनुष्य इस प्रकार शुचिता का दृढता से व्यवहार करता है, पवित्रता का पूरा ख्याल रखता है तभी बाकी साधन पुष्ट होते हैं।

आठ

ज्ञान साधनों और अन्य साधनों में मूलगत भेद बता रहे थे। ज्ञान शब्द परोक्ष ज्ञान को भी बताता हे और अपरोक्ष या प्रत्यक्ष अनुभव को भी बताता है। प्रत्येक धर्म में और सनातन धर्म में भी दोनों प्रकार की धाराएँ चलती हैं — कर्मधारा और ज्ञानधारा। कर्मधारा में परोक्ष ज्ञान पर जोर होता है और ज्ञानधारा में अपरोक्ष ज्ञान पर जोर होता है। इसलिये कर्म शास्त्र हम को कुछ करने को कहता है। वह करना चाहे अपने शरीर के साथ हो या अपने मन के साथ हो, लेकिन प्रधानता वहाँ कर्म या कुछ करने की होती है। इसी धारा के अन्तर्गत पुराण और इतिहास 'क्या हुआ था' इसका वर्णन करते हैं। परमेश्वर की लीलाओं का चिन्तन, अवतारों का चिन्तन इत्यादि, इन सबमें इस बात पर जोर है कि भगवान् के विषय में हमें पता लगे कि भगवान् ने क्या-क्या किया। अर्थात् इनमें से कौन सी चीजें ऐसी हैं जिन्हें हम करे। ज्ञान में इससे विपरीत कुछ करने पर जोर नहीं है वरन् 'हम क्या हैं' इस पर जोर है।

ज्ञानसाधना में इसलिये लोगों को कठिनाई का अनुभव होता है। यहाँ किसी बाहरी चीज को परोक्ष रूप से जानना नहीं है वरन् अपने को गढ़ना है। जिस प्रकार स्थपति (मूर्तिकार) अनघड़ पत्थर को लेता है। पहले अपने अन्दर परोक्ष रूप से स्पष्ट इस बात को समझ लेता है कि उसमें कैसी मूर्ति प्रकट करना चाहता हूँ। यह सोच लेता है। पत्थर में यथास्थान मूर्ति के प्रत्येक अंश का चित्र अपने मन में स्पष्ट कर लेता है। इसके बाद पत्थर घड़ता है। उसने मन से जिस मूर्ति की कल्पना की है उस मूर्ति के ऊपर की जितनी पर्ते हैं उन्हें उतार देता है। जैसे-जैसे वे टुकड़े अलग होते जाते हैं वैसे-वैसे मूर्ति प्रकट होने लगती है। वास्तविकता यह है कि मूर्ति बनाई नहीं जाती, मूर्तिकार कुछ 'करता' नहीं है, मूर्ति तो उसमें पहले ही मौजूद है; परन्तु मूर्ति के साथ-साथ उसमें कुछ ऐसे हिस्से भी हैं जिनसे वह मूर्ति दीखती नहीं। उन टुकड़ो या हिस्सों को हटा देने पर वह मूर्ति व्यक्त हो जाती है। इसी प्रकार ज्ञानसाधना में साधक स्वयं अनघड़ पत्थर है। वह परमात्मा के विषय में परोक्ष ज्ञान करके स्पष्ट

रूप से समझ लेता है कि उसे स्वयं में किसे प्रकट करना है। इस अनघड़ जीव के अन्दर ही परमात्मा उपस्थित है, परन्तु परमात्मा के साथ ही उसमें अन्य, जीवभाव, भी लिपटा है। उन भावों को जब हटा दिया जायेगा तो अन्दर रहने वाला सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा व्यक्त हो जायेगा। हम नये सिरे से परब्रह्म परमात्मा बनेंगे, ऐसा नहीं है, वरन् सच्चिदानन्द से भिन्न जो कुछ है वह सब हमको दूर करना है। उसको दूर कर देने पर परमात्मा का अपने अन्दर ही स्थित स्वरूप व्यक्त मात्र हो जायेगा। है तो अभी भी वैसा ही, परन्तु अन्य भावों के द्वारा आवृत है। इसलिये ज्ञानसाधना से एक नवीन 'निर्माण' हो जाता है अथवा एक नवीन अभिव्यक्ति हो जाती है। वही पूर्ण व्यक्तित्व का प्राकट्य हैं। इस साधना से कुछ जोड़ा नहीं जाता। कर्म करने की साधना में तुम जैसे हो वैसे बने रहते हो, ऊपर से कुछ और जुड़ जाता है। यहाँ तो जो भी तुम्हारा मिथ्या स्वरूप है वह हटकर जो वास्तविक रूप सच्चिदानन्द वह प्रकट हो जाता है। ज्ञान के द्वारा जो चीज हटाई जाती वह निरवशेष हो जाती है अर्थात् कुछ बचता नहीं है। अतः ज्ञानसाधना के द्वारा जब वहाँ पहुँचते हो तो कहीं भी ब्रह्म के सिवाय और कुछ अवशिष्ट नहीं रह जाता इसीलिये इस साधना के अन्दर समग्र साधनाएँ आ जाती हैं।

जीव कर्म क्यों करता है ? कोई न कोई कामना या इच्छा है, उसी से करता है। इसीलिये शास्त्रकार स्पष्ट कहते हैं**'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत् कामस्य चेष्टितम्।'** जो कुछ कर्म किया जाता है वह किसी न किसी कामना से किया जाता है। वह कामना अच्छी हो या बुरी, परन्तु जहाँ भी कोई व्यक्ति कर्म करता है वहाँ वह किसी नतीजे को अवश्य चाहता है। बिना चाहना या कामना के कर्म असम्भव है। अतः यदि कामना ठीक हो जायेगी तो कर्म में खराबी रह नहीं सकती। कामना की गड़बडी का कारण अज्ञान को बताया था। प्राणिमात्र चाहता है कि हमारा दुःख हटे और हमें आनन्द मिले, परन्तु यह आनन्द कैसे मिले, इसके बारे में उसे अज्ञान है इसलिये सोचता है कि अमुक प्रकार की कामना करने से जो मैं दुःख की निवृत्ति और आनन्द प्राप्ति चाहता हूँ वह हो जायेगी। यदि अज्ञान हट जाता है तो कभी गलत कामना हो नहीं सकती। इसलिये आचार्य शंकर जगह-जगह कहते हैं "अविद्या-काम-कर्म" अर्थात् अविद्या के कारण कामना और कामना के कारण कर्म होता है। इसलिये ज्ञानसाधना में कर्मशुद्धि, कामशुद्धि और ज्ञानशुद्धि तीनों की अपेक्षा पड़ती है। कर्मकाण्डी केवल कर्म

को पकड़ता है। कर्म दो प्रकार के हैं – शरीर के द्वारा किये जाने वाले कर्म और मन के द्वारा किये जाने वाले कर्म। इसलिये भगवान् ने गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्म और योग दोनों का निरूपण कर दिया। शरीर को लेकर किये जाने वाले सारे कर्म योग के अन्तःपाती हो जाते हैं। अमुक प्रकार के आसन, प्राणायाम अथवा यज्ञ दान आदि सबके अन्दर हमारे में परिवर्तन लाने पर विचार नहीं है, हमारे कर्मों में परिवर्तन करना है। जहाँ ज्ञान की बात आती है वहाँ पर हमको क्या होना है, हम वस्तुतः क्या हैं? इस पर विचार है। परमेश्वर के साथ जब तक किसी अन्य सम्बन्ध को रखते हैं तब तक उसे उपासना या भक्ति कहते हैं। और जब हम अपने वास्तविक स्वरूप को जान लेते हैं तब उसे ज्ञान कहते हैं।

पहले परोक्ष ज्ञान करना आवश्यक होता है, उसके बाद वह अपने अन्दर प्रकट करके अपरोक्ष साक्षात्कार हो जाता है। यहाँ जो पूरे व्यक्तित्व का परिवर्तन है, वह किसी बाह्य चीज का परिवर्तन नहीं है, इसीलिये यह मार्ग लोगों को कठिन लगता है। दूसरी तरफ अनेक लोगों को यह मार्ग सरल लगता है। यद्यपि ये दोनों बातें विरुद्ध लगती हैं। परन्तु कोई भी चीज जब हमारा स्वभाव बन जाती है तब वह करना बड़ा सरल हो जाता है और कोई भी चीज जब बाहर से करवायी जाती है तब तक वह करना कठिन होता है। मान लो तुम किसी दुकान के मुनीम हो और दस बजे दुकान खुलती है तो कभी तुम्हारी बस लेट हो जाती है, कभी स्कूटर नहीं मिलता इसलिये साढ़े दस बजे पहुँचते हो क्योंकि यह काम तुम किसी और के लिये कर रहे हो। अब वह दुकान तुमने खरीद ली और मालिक बन गये। अब तुम चाहे जितने बजे पहुँचो, कोई रुकावट करने वाला नहीं है। लेकिन अब न बस लेट होती और न स्कूटर नहीं मिलता ऐसा होता है, दुकान पर नौ ही बजे पहुँच जाते हो। दूसरा कहेगा यह आदमी बड़ा परिश्रमी रहा है लेकिन उसे यह महसूस नहीं होता कि कोई परिश्रम या कठिनाई है। चूँकि अब उसका व्यक्तित्व बदल गया, अब कोई दूसरा उससे कराने वाला नहीं है, अब वह कराने वाला मालिक बन गया। ठीक इसी प्रकार से कर्ममार्ग में चूँकि तुमको अपने को बदलना नहीं पड़ता इसलिये तुमको बदलने का कर्मश्रम कम है। परन्तु जबतक करोगे तब तक किसी अन्य उद्देश्य से करोगे, अतः तुमको हमेशा कठिनाई महसूस होगी। जैसे किसी से कहते हैं कि प्रातःकाल ११ माला जप किये बिना पानी मत पीना। कहने के साथ ही सामने वाला प्रश्न करता

है कि 'बुखार आ जाये या कोई काम आ जाये तब क्या करें ?' अगर कहें 'भोजन में रोज कुछ न कुछ मीठा अवश्य खाना' तो कोई नहीं पूछता 'अगर बुखार आ जाये तो ?' भोजन में हमारी स्वाभाविक रुचि है, वह रुचि भजन में नहीं है। ठीक इसी प्रकार से जब हमारा व्यक्तित्व परिवर्तित हो जाता है, जब हम खुद बदल जाते हैं तो शुभ कर्म और परमात्मा के प्रति प्रेम ऐसा स्वाभाविक जो जाता है कि कोई जोर नहीं पड़ता, ऐसा नहीं लगता कि मैं कुछ कर रहा हूँ, बल्कि न करना बोझ लगता है। हम लोग परिश्रम करके तैरते हैं, उसी पानी में रहने वाली मछलियाँ सहज भाव से तैरती हैं, उल्टा उन्हें पानी से निकालें तो कष्ट होता है। इसी प्रकार से ज्ञानसाधना वाला परमात्मा से यदि अपने को एक क्षण के लिये भी अलग समझे तो उसके लिये मरणांतक कष्ट हो जाता है। अतः ऐसे व्यक्तियों का जीवन संसारी लोग नहीं समझ पाते, संसारी लोगों का भजन हो गया तो अब काम करना है। ज्ञानसाधक का ठीक इसके विपरीत हैं कि काम आ पड़ा हैं, निपट गया ; इसलिये अब भजन ही करना है। संसारी व्यक्तियों का काम की तरफ आकर्षण है और भजन करना पड़ता है। ज्ञानसाधना वाले को भजन सहज है, जीवन निर्वाह आदि के लिये काम करना पड़ता है। इसलिये ज्ञानमार्ग सरल भी है और कठिन भी है। सरल इसलिये है कि एक बार फल गया तो हमेशा के लिये छूट गया परन्तु फलने के पहले जरा कठिनाई है।

भगवान् इसीलिये कहते हैं –

'आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यम् आत्मविनिग्रहः।'

आचार्य शंकर स्थैर्य का अर्थ करते हैं –

'मोक्षमार्गे एव कृताध्यवसायत्वं स्थिरता।'

अर्थात् मोक्ष मार्ग के विषय में अध्यवसाय ही स्थिरता है, उसमें निश्चयपूर्वक लगे रहना है। ज्ञानमार्ग में इसको विशेष कर भगवान् ने इसलिये गिना कि अध्यात्मशास्त्र में इस मार्ग में चलने पर फलने में देरी लगती है और उस देरी के कारण आदमी घबराने लगता है क्रिया का फल तो झट दीखता है, हमने किया और फल हो गया। योगाभ्यास आदि आन्तरिक क्रिया में भी यही है। सालभर पहले हमने आधा घण्टा प्राणायाम किया और साल भर बाद एक घण्टा करने लगे तो वह फल दीखता है। परन्तु यहाँ तो व्यक्तित्व का निर्माण करना

है, अपने आपको बनाना है, इसलिये कोई फल जल्दी नहीं दीखता। ऐसे समझ लो कि कोई दूसरा व्यक्ति हमको दीखता है तो झट कहते हैं कि तुम्हारा वजन घट गया या बढ़ गया है। परन्तु स्वयं अपने को पता लगना कि वजन घट गया या बढ़ गया, बड़ा मुश्किल है। आदमी सोचता है कि वजन घटा रहा हूँ, महीने भर बाद तोलता है तो पाता है कि आधा किलोग्राम बढ़ गया। चूँकि दस-दस ग्राम वजन बढ़ता है तो पता ही नहीं लगता, महीने के अन्त में तीन सौ ग्राम बढ़ा हुआ होता है। चूँकि हम अपने आपको परिवर्तित कर रहे हैं तो उसका पता अपने आपको जल्दी नहीं चलता। दूसरा व्यक्ति देखता है कि पहले के जितने काम क्रोध आदि विकार इसमें नहीं है। परन्तु अपने को ऐसा नहीं लगता। इसलिये पहले पहल साधकों के जीवन को देखोगे कि वह बार-बार कहने लगते हैं कि मेरे जैसे दोष वाला कोई नहीं है, मेरे जैसा कुटिल कोई नहीं है। उनकी उस वाणी को सुनकर या पढ़ कर मनुष्य को शंका होने लगती है कि क्या इतनी साधना करने के बाद इसकी यह स्थिति है ? जब कि वस्तु-स्थिति यह है कि उसके अन्दर ये दोष पहले की अपेक्षा बहुत कम हो गये हैं परन्तु उतनी ही उसकी सूक्ष्म दृष्टि बढ़ गई है, इसलिये वह भी उससे सहन नहीं होता।

ऐसा परिवर्तन न दीखने पर भी हिम्मत बिना हारे लगे रहना है। अपने निश्चय में यह परिवर्तन नहीं लाना है कि इस मार्ग से हम नहीं बढ़ रहे हैं, मार्गान्तर में चलें तो जल्दी मिल जायेगा। अपने निर्माण में यह भावना बार-बार आती है, इसे हटाते रहना पड़ता है क्योंकि अपना ही निर्माण है किसी दूसरी चीज का निर्माण नहीं करना है। इसीलिये स्थिरतापूर्वक मोक्षमार्ग में लगे रहना आवश्यक हो जाता है। दूसरी कठिनाई यह है कि अन्य किसी मार्ग की या कर्ममार्ग की साधना करते हैं तो उसमें कर्त्तापन का भाव बढ़ता है, ज्ञान-साधना में अकर्त्तापन के भाव को बढ़ाना है अतः यदि तुमने साधना बदली तो कर्त्ताभाव बढ़ जायेगा। 'मैंने किया' यह भाव आने पर 'मैं कर्त्ता नहीं' यह भाव नहीं रहता। अतः दूसरी साधना इसमें सहायक न होकर बाधक हो जायेगी।

एक बार महाराजा युधिष्ठर अन्दर बैठे हुए थे। पुराने जमाने में पुराने किलों में अनेक दरवाजे, अनेक ड्योढ़ियाँ हुआ करती थीं। राजा अन्दर रहता था, बाकी भाई ड्योढ़ी पर बैठते थे। बिल्कुल बाहर की डयोढ़ी पर भीम रहता था। इसलिये कोई भी आये तो भीम से मिलता था। किसी ने आकर कहा- 'युधिष्ठर से कोई बात पूछनी है, क्या मैं अन्दर जा सकता हूँ ?' भीम ने कहा

'वे बहुत व्यस्त हैं, मुझे बताओ क्या पूछना है ? 'उसने कहा' 'आज प्रातःकाल जब मैं कुएँ पर नहाने गया तो कोई व्यक्ति डोल लेकर आया। उसके साथ दस व्यक्ति दस बड़े घड़े लेकर आये। उन्होंने एक डोल पानी निकाला और उसी से दस घड़ों को पूरा भर दिया। यह देखकर मुझे आश्चर्य हुआ कि एक डोल से दस घड़े कैसे भर गये ? मैंने उनसे कहा इन दस घड़ों का पानी वापिस उस एक डोल में डालो तो उन्होंने जब दस घड़ों का पानी उस एक डोल में डाला तो वह डोल आधा ही भर पाया जबकि वह डोल दस घडों की अपेक्षा छोटा ही था। अतः मैं पूछने आया हूँ कि इसमें क्या रहस्य है ?' भीम ने कहा 'तुम्हारा प्रश्न बड़ा मुश्किल है, मुझे पता नहीं, तुम अन्दर चले जाओ ?'

दूसरी ड्योढ़ी में अर्जुन थे। उस व्यक्ति ने अर्जुन से कहा 'मुझे युधिष्ठर से कोई बात पूछनी है, क्या मैं अन्दर जा कसता हूँ?' अर्जुन ने कहा — 'पहले मुझ से पूछ लो, वे तो कार्य में व्यस्त हैं।' उसने कहा — 'आज मैं जगंल में गया था। वहाँ ग्वाला गायों को चरा रहा था। देखता हूँ कि वहाँ एक गाय ब्याह गई और उसके बछड़ी हुई और वह बछड़ी का दूध पीने लगी गई। मैं पूछना चाहता हूँ यह क्या चीज है ?' अर्जुन ने कहा 'मेरी समझ में तो नहीं आया कि यह क्या हुआ ? तुम युधिष्ठर के पास चले जाओ।'

आगे नकुल बैठे थ। उस व्यक्ति ने कहा 'क्या मैं अन्दर जा सकता हूँ ? कुछ पूछना चाहता हूँ।' नकुल ने कहा— 'पहले मुझ से पूछ लो।' उसने कहा 'मेरा पड़ोसी अपने बगीचे में सब्जी बोता है और उस सब्जी की रक्षा के लिये उसने बगीचे के चारों तरफ काँटों की बाड़ लगा रखी है। आज मैंने सबेरे-सबेरे देखा कि उस बाड़ के काँटे झुककर सब्जियों को खा रहे हैं। काँटे कैसे सब्जी खा रहे हैं, यह मेरी समझ में नहीं आया।' नकुल ने कहा 'यह मेरी समझ में भी नहीं आया, अन्दर चलो जाओ।'

अन्दर सहदेव था। उसने पूछा — 'अन्दर जा सकता हूँ ?' सहदेव ने भी कहा — 'अपना काम बताओ।' उसने कहा कि 'मैं पहाड़ पर घूमने गया था। उस पहाड़ से चट्टाने गिरने लगीं और उससे बड़े-बड़े पेड़ गिर रहे थे। उसमें एक बहुत हल्का मकड़ी का जाला था। उस जाले में एक पत्थर फँस गया, वहीं रुका रहा। यह रहस्य की बात समझ में नहीं आई।' सहदेव ने कहा — 'मुझे पता नहीं। तुम अन्दर चलो जाओ।' जैसे ही वह युधिष्टर से सामने पहुँचा

तो जैसे तुषार-कण, पाले की बूंद, सूर्य के सामने उड़ जाती है उसी प्रकार वह व्यक्ति वहाँ रहा ही नहीं, उड़ गया। युधिष्ठर ने मानो उसे देखा ही नहीं, और वह देखते ही देखते तुरन्त खत्म हो गया।

भोजन का समय हुआ तो सब भाई इकट्ठे हुए और भोजन करने बैठे तो भीम ने कहा 'एक आदमी कुछ पूछने आया था, आपने क्या जवाब दिया ?' युधिष्ठर ने कहा, 'उसने मेरे से तो कुछ नही पूछा और मेरे पास तो कोईआया भी नहीं।' तब भीम ने कहा 'उसने कुझ से पूछा कि एक गाँव के अन्दर एक छोटे डोल पानी से दस डोल भर गये लेकिन दस डोल पानी से वह छोटा डोल नही भरा।' युधिष्ठर ने कहा 'अच्छा, यह तो बड़ा मामूली प्रश्न है। वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं था, वह कलि था। अन्य युगों में लोग सन्तुष्ट होते हैं इसलिये तब एक कमाता है और दस का पेट भरता है। लेकिन जब कलियुग आता है तो दस की कमाई से एक का पेट नहीं भरता है। चाहे जितने पदार्थ बढ़ते जायें, संतोष के अभाव में मनुष्य को पूरा नहीं पड़ता।' आज से साठ वर्ष पूर्व विधवा औरत भी एकादशी के दिन मन्दिर में जाती थी, तो कुछ सीधा (आटा घी आदि सामग्री) लेकर जाती थी कि वहाँ पण्डित जी को देकर आयेगी। उसके पास तो जुगाड़ हो जाता था। आज दस हजार रुपया महीना पाने वाला भी कहता है 'मेरी दान देने की बड़ी इच्छा होती है लेकिन क्या करूँ, घरखर्च से कुछ बचता ही नहीं है।' यदि हम उससे पूछते हैं ' मान लिया कुछ नहीं बचता है तो यह बताओ कि तुम्हारी घरवाली की अल्मारी में कितनी साड़ियाँ हैं ?' तो कहता है 'गिना तो नहीं सौ साड़ियाँ तो होंगी ही !' सौ साड़ियाँ होने पर भी किसी दिन कोई एक साड़ी लेने के लिये आ जाये तो कहती है 'इसमें देने के लायक कोई नहीं है।' इसलिये 'दस डोल पानी से एक डोल कैसे नहीं भरा – यह प्रश्न पूछने वाला कलियुग था। उसने अपनी सूचना दी। लेकिन मेरे सामने आते ही वह तो मानो जैसे सूर्य के सामने आते ही तुषार कण उड़ते हैं वैसे ही उड़ गया।'

अर्जुन ने कहा – 'मुझसे तो उसने दूसरा ही प्रश्न पूछा था। जैसे ही गाय ब्याई वैसे ही वह तत्काल बड़े-बड़े स्तनों के साथ पैदा हुई अपनी बछड़ी का दूध पीने लगी। यह कैसे हो सकता है ?' युधिष्ठर ने कहा – 'यह बड़ी सीधी बात है। गृहस्थ ही गाय है क्योंकि सबको उसी से प्राप्त होता है। उस

गृहस्थ रूपी गाय से कन्या रूपी बछड़ी पैदा होती है। पहले तो कन्या माता-पिता पर आश्रित रहती थी परन्तु अब विपरीत हो जायेगा कि गृहस्थ अपनी कन्या की ही कमाई खाने लगेगा, कन्या के घर जाकर रहेगा। कन्या का दान नहीं होगा वरन् कन्या का तो आदान-प्रदान होगा।' आजकल लोग कहते ही यह हैं कि लड़के-लड़की में क्या फर्क है ? लड़के की कमाई ले सकते हैं तो लड़की की कमाई क्यों नहीं ले सकते, वह भी लड़के के जैसी ही है।

नकुल ने कहा मुझसे उसने पूछा था कि 'बाड़ खेत को कैसे खा गई? युधिष्ठर ने कहा 'यह भी सीधी सी बात है। रक्षक अर्थात् राजपुरुष ही भक्षक हो जायेगा।' पहले हम भागवत में पढ़ते थे **'नृपाश्चौरा भविष्यन्ति सम्प्राप्ते तु कलौ युगे'** अर्थात् राजा डकैती करेंगे। सोचते थे कि इसका कुछ और ही तात्पर्य होगाा। समझ में नहीं आता था। अब जब राजपुरुष खुलेआम घोषणा करते हैं कि हम 'रेड' करेंगे, डकैती को अंग्रेजी में 'रेड' कहते हैं, तो ऋषियों की कहीं हुई बात ठीक समझ में आ गई। उन्हें इस बात की शर्म-लिहाज भी नहीं रह गई कि कम से कम अपने आपको डाकू कहें तो नहीं। इसीलिये कलि ने बता दिया कि राजा अर्थात् रक्षक ही प्रजा को खाने लगेंगे।

सहदेव ने कहा 'मुझसे भी उसने प्रश्न पूछा था कि बहुत बडा शिलाखण्ड टूटकर एक मकड़ी के जाले से कैसे रुका रह गया?' युधिष्ठर ने कहा 'यह उसने अपना अंतिम संदेश दिया कि पापरूपी पहाड़ टूटेगा और बड़े-से-बड़े साधन मनुष्य की रक्षा करने में कुछ काम नहीं आयेंगे, परन्तु ज्ञानरूपी साधन ही मनुष्य को बचा ले जायेगा।' शरीर मन बुद्धि इत्यादि को हम पूरी तरह से ठीक कर सकें, यह सम्भव न होने पर भी, परमात्मा ही मेरे अन्दर बैठा हुआ सब रूपों को धारण करने वाला है, यह मानकर उस परमात्मा के ही सहारे में हो जायेंगे तो इन सब कठिनाइयों से बच जायेंगे। यह स्थिरता ही वह हल्का मकड़ी का जाला है, कोई दीखने वाली चीज नहीं है।

इसी प्रकार लगता है, ज्ञान का साधन केवल विचार मात्र है, इससे बड़े-बड़े पाप रूपी पहाड़ कैसे रुक जायेंगे ? जब अपने आपको पाँच कोशों से अलग कर लोगे तो पंचकोशों को चलाने वाला परमात्मा अपने आप उनको चलायेगा। जब तक हम कर्त्ताभाव से सुधरने का प्रयास करेंगे तब तक नहीं सुधरेगा। जब हम इसको परमात्मा के अर्पण कर देंगे तो परमात्मा स्वयं ही इसको सम्हाल

लेगा। आचार्य शंकर एक जगह कहते हैं कि हे परमेश्वर! मैं उपने इस मन को नियंत्रण करने में समर्थ नहीं हो पा रहा हूँ क्योंकि यह पहले ही चंचल है।

'हृदयकपिमत्यन्तचपलम्
दृढं भक्त्या बद्ध्वा शिव भवदधीनं कुरु विभो।'

"हे शिव ! मैं तो इस मन को नियंत्रण नहीं कर पाता, आप ही इसे प्रेम की डोरी से बाँध कर अपने अधीन कर लो।' यह विचार रूपी मकड़ी का ज़ाला ही इसे स्थिरता देता है। इसके द्वारा बताया कि इस प्रकार जो अपने आपको ईश्वरार्पण कर देता है यही मनुष्य को सारी परिस्थितियों से बचाने में समर्थ हो जाता है। परन्तु यह करने के लिये स्थिरता की आवश्यकता होती है।

अपने कार्यकरण संघात पर ध्यान रखने की प्रवृत्ति तो इसकी होगी लेकिन निरंतर हम इसकी ही सेवा या तीमारदारी में न लगे रह जायें। आचार्य शंकर कहते हैं **"तत्तत्कालसमागतामयततेः शान्त्यै प्रवृत्तो यदि"** आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक में से कोई न कोई रोग तो हमेशा आता ही रहेगा। अगर निरन्तर चाहोगे कि ये सब चीजें ठीक हो जायें तो परमात्मा के चिन्तन का समय मिलना ही नहीं है। इसलिये हमेशा सावधानी पूर्वक जब-जब हमारी प्रवृत्ति इन चीजों को हटाने की हो तब-तब परमेश्वर के अर्पण करना है। हे परमेश्वर ! तू ही इन रोगों हो हटा सकता है क्योंकि हटाने वाला तू ही है। यह प्रवृत्ति तब तक नहीं होती जब तक अपने अनुकूल परिस्थियों में प्रति वैराग्य नहीं होता।

स्थिरता के लिये आत्मविनिग्रह आवश्यक है और आत्मविनिग्रह के लिये वैराग्य की आवश्यकता है। आचार्य अनुभूतिस्वरूप प्रकटार्थविवरण में वैराग्य का मतलब बताते हैं कि वैराग्य राग का अभाव नहीं है वरन् भाववृत्तिविशेष है। ठीक जिस प्रकार मनुष्य जंगल में जाता है, उसके हाथ में फावड़ा या कुल्हाड़ी है तो ऐसा नहीं कि जिस पत्थर या पेड़ को देखे उसे हटाता या काटता चला जाये। उसके रास्ते में जो रुकावट डालता है उसी पेड़ की डाली या उसी पत्थर को हटाता है। इसी प्रकार जो चीज हमको परमात्म -चिन्तन तें रुकावट डालने वाली हो, उसे हटाना है। सब चीजों को हटाने का व्यर्थ प्रयास नहीं करना है।

इन सबको करते हुए 'यह सब मैं कर रहा हूँ, इसमें मेरी श्रेष्ठता है' इस भाव को नहीं आने देना है, इसलिए कहा **"अनहंकार एव च"**। उक्त बीस गुणों के अन्दर एवकार भगवान् ने केवल अनहंकार के साथ दिया, अर्थात् यह मुख्य साधन है। अहंकार का स्वरूप होता है — जाति वर्ण, आश्रम, आचार, विद्या, कुल-शील का गर्व होना। इन सब में जो श्रेष्ठत्व का अभिमान होता है कि मैंने इतना आचार कर लिया, मेरे विचार में इतनी प्रौढता आ गई इत्यादि, उस से साधक सर्वथा बचे। इस रास्ते से जाने में बड़ी गड़बड़ी हो जाती है।

ध्रुव का पुत्र उत्कल हुआ। ध्रुव जैसा ही वैराग्यवान् था। इसलिए वह तो गद्दी पर बैठा नहीं। उसके छोटे भाई को बैठाया गया। उसी की परम्परा में आगे जाकर अङ्ग पैदा हुए। अङ्ग के कोई सन्तान नहीं थी। एक बार वह किसी यज्ञ-सम्पादन में लगे हुऐ थे तो देवताओं का आह्वान होने पर भी देवता हवि लेने नहीं आये। अङ्ग ने सब लोगों से इसका कारण पूछा। उन लोगों ने विचार करके कहा 'चूँकि आपके कोई पुत्र नहीं है इसलिए देवता हवि लेने नहीं आये।' तब अङ्ग ने पुत्र के निमित्त इष्टि की। उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसके अन्दर ध्रुववंश के लक्षण न आकर उसकी माता सुनीता के वंश के लक्षण आ गये। जवानी में ही नाहक प्राणियों की हत्या के कार्य में लग गया। अङ्ग अत्यन्त दुःखी हो गये। इसीलिए राज्य छोड़कर जंगल चले गये।

अब तो वेन सर्वथा स्वतन्त्र हो गया। भृगुमहर्षि ने उसका अभिषेक किया क्योंकि एक ही पुत्र था। उन्हें पता भी था कि यह दुष्ट प्रकृति का है लेकिन उन्होंने विचार किया कि कई बार ऐसा होता है कि मनुष्य के ऊपर जिम्मेदारी आने पर वह सुधर जाता है। इसलिए उन्होंने उसका अभिषेक कर दिया। वह कठोर और निष्ठुर तो था ही इसलिए उसने राज्य व्यवस्था बड़ी सुन्दर की। राज्य के सारे दस्यु दुष्टों का उसने दमन किया। जैसे गरुड से सर्प डर जाते हैं वैसे ही इसकी क्रूरता से डरकर सभी लोग आचरणों को ठीक करने लगे। इसके अन्दर अहंकार आ गया और सोचने लगा कि ऐसी बढ़िया राज्य व्यवस्था तो इसके पहले मेरे पूर्वजों के राज्य में भी कभी नहीं रही इसलिए मेरी बड़ी भारी सामर्थ्य है। अतः इसने निर्णय कर लिया कि मेरे सिवाय और कोई इस संसार को व्यवस्थित रखने वाला नहीं है।

'न यष्टव्यं न दातव्यं न होतव्यं द्विजा क्वचित्।
इति न्यवारयन् धर्मम् भेरिघोषेण सर्वथा।।'

इस प्रकार वेन नगाड़ो के ऊपर घोष करता था कि यज्ञ, दान, पूजा इत्यादि कुछ भी करने की जरूरत नहीं है, ये सब व्यर्थ हैं, उससे केवल राष्ट्र का धन ही बर्बाद होता है और कुछ लाभ नहीं होता है। हवन करके घी जलाओगे, इसकी अपेक्षा गरीबों को घी खिलाओ, यह ज्यादा फायदे की चीज है। कुछ नहीं करने वाले, निरन्तर वेद-पाठ में लगे रहने वाले, परमात्मा के ध्यान चिन्तन में लगे रहने वाले आदि राष्ट्र का कौन सा लाभ कर रहे हैं? इन्हें दान देने से क्या फायदा होगा ? देना हो तो अन्धे-लूले-लंगड़ो को दो। ऐसी उसने घोषणा करवाई। यह कलियुग के पहले की बात है क्योंकि आज तो भेरि घोषणा की जगह टेलिविजन या लाउडस्पीकरों से ऐसी घोषणाएँ होती हैं कि अण्डा खाना स्वास्थ्य के लिये अच्छा है। अण्डा खाने से पाप लगता है ऐसा कोई टेलीविजन वाला नहीं कहेगा।

ऋषियों ने उसे बहुत समझाया कि इस प्रकार के अहंकार से इस सृष्टि-चक्र का नाश ही होगा। वेन उल्टा उन्हीं ऋषियों को समझाने लगा, 'तुम लोग अधर्म को धर्म समझ रहे हो और अपने आपको बड़े ऋषि समझते हो। ये यज्ञ, दान आदि तो अधर्म है, तुम बचपन से इसे धर्म समझ रहे हो।

'ये वृत्तिदं पतिम् हित्वा जारं पतिमुमासते।'

कोई पति तुम्हें खिलाता-पिलाता है और तुम्हारे लिए सब कुछ करता है, उसे छोड़कर यदि तुम किसी जार या परपुरुष को अपनी उपासना या प्रेम का विषय बनाओ तो अधर्म है। ठीक इसी प्रकार—

'अवजानन्त्यमी मूढा नृपरूपिणमीश्वरम।
को यज्ञपुरुषो नाम यत्र वो भक्तिरीदृशी।।'

राजा रूपी ईश्वर की तो अवज्ञा करते हो और जिसको किसी ने नहीं देखा, ऐसा वह कौन यज्ञपुरुष या पुरुषोत्तम है जिसके लिए तुम प्रेम कर रहे हो? सारी व्यवस्था करने वाला तो मैं हूँ। तुम्हारे राज्य में शान्ति स्थापित करने वाला मैं हूँ, और तुम्हारी सारी आवश्यकताओं को मैं पूरा करता हूँ। **'तस्माद् मां कर्मभिर्विप्रा यजध्वं गतमत्सराः'** इसलिए आप लोग मेरे दोषों को देखना छोड़कर मेरी ही उपासना करो और मुझे ही भेंट दो।'

ऋषियों ने विचारा कि यह तो इस युग में ही कलियुग ला रहा है। कलियुग में भी लोग यही कहते हैं कि जो कुछ है वह राष्ट्र या देश ही है, इससे भिन्न

कुछ नहीं है। उस यज्ञ पुरुष या परमेश्वर को किसने देखा है ? ऋषि सोचने लगे कि दोनों तरफ कठिनाई है। एक तरफ अगर अराजक हो जाते है तो भी व्यवस्था ठीक नहीं चलेगी और दूसरी तरफ वेन जैसा राजा भी लोगों को अव्यवस्थित कर देगा। इसलिए उन्होंने वेन को दण्डित किया, उसे जला दिया और फिर पृथु को उत्पन्न करके उसके हाथ में शासन दिया।

यहाँ , जैसे सफलता मिलने पर वेन को अहंकार हो गया उसी प्रकार जब हम साधना में प्रवृत्त होते हैं और जहाँ थोड़ी व्यवस्था बनने लगती है, चीजों का कुछ नियंत्रण होने लगता है, वैसे ही अहंकार आने लगता है कि मैंने ऐसी-ऐसी साधना कर ली। उसकी जगह यदि अनहंकार होता है तो वह जानता है कि परमेश्वर की शक्ति और सामर्थ्य से मैं बचा हुआ हूँ, मेरी सामर्थ्य से नहीं। इस प्रकार कर्तृत्व भाव को हटाते रहोगे तो काम बन जायेगा, अन्यथा नहीं। इसलिये अनहंकार का वैशिष्ट्य बताने के लिये एवकार दिया कि यह सबसे प्रमुख साधन है। इन सब साधनों को करते हुए भी अहंकार मत आने देना। यदि दूसरी साधना भी की, परन्तु अहंकार नहीं होगा तो भी काम बन जायेगा। और यदि दूसरी साधना कर भी ली लेकिन अहंकार होगा तो हानि ही होगी। ज्ञान के अन्य साधनों पर आगे विचार करेंगे।

नौ

{ ध्वनिमुद्रण (audio-recording) के अभाव में यह प्रवचन लिखकर उपलब्ध न हो सका।}

दस

ज्ञान साधना का विचार कर रहे थे। कल बताया कि जब तक जिज्ञासा की तीव्रता न हो, परमात्मा का साक्षात्कार करने की ऐसी छटपटाहट न हो जाये कि उसके बिना जीवन व्यर्थ है, तब तक परमात्मप्राप्ति, परमात्मसाक्षात्कार नहीं होता। आचार्यों ने कहा है कि सिर पर पड़े जलते अंगारे हटाने की जैसी तीव्रतम इच्छा होती है, वैसी तीव्र परमेश्वर-कामना के बिना परमेश्वर प्राप्त हो नहीं सकता। इसे ही यहाँ भगवान् ने **'अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी भक्तिः'** कहा है। ज्ञानसाधना में इस परप्रेम की अत्यधिक आवश्यकता है। गीता में ही अन्त में भगवान् कहेंगे **'भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।'** इस अपृथक्समाधिरूप भक्ति का स्वरूप कल बताया था—शरणागति। इस शरणागतिद्वारा ही, जैसा मेरा वास्तविक स्वरूप है, उसका साक्षात्कार करता है, जिससे परम शान्ति पाता है। इस भक्ति की प्राप्ति के साधन क्या? इस का उत्तर भगवान् देते हैं—

विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।।

'विविक्तदेशसेवित्वम्'—भक्तिलाभ के लिये मनुष्य को पवित्र देश का सेवन करना पड़ता है। यद्यपि अमरकोष में विविक्त के दो अर्थ बताये हैं **'विविक्तः पूत-विजनौ'** पवित्र तथा जहाँ दूसरे लोग न होवें, तथापि यहाँ जहाँ दूसरे लोग न होवें उस स्थान का निषेध जनसंसद् में अरति कहकर भगवान् कर ही रहें हैं इसलिये विविक्त से पूत अर्थात् पवित्र ही समझना होगा। अपवित्र देश में वातावरण —चारों तरफ के स्पन्द—अपवित्र बनता है। मनुष्य का शरीर और मन ऐसा बना हुआ जो बाह्य जगत् के स्पन्दों (vibrations) द्वारा तुरन्त प्रभावित हो जाता है। यह कहना कि बाहरी वातावरण से कोई प्रभावित नहीं होता, बिल्कुल गलत बात है। प्रभाव पड़ने के बाद अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार कोई इतना कम प्रभावित होता है कि दूसरे को या स्वयं अपने को भी पता नहीं चलता। जिस प्रकार जहाँ चारों तरफ रोग के कीटाणु हैं वहाँ रहने वाले सभी लोगों पर

उन कीटाणुओं का प्रभाव तो होता ही है पर जिसके शरीर की सामर्थ्य अधिक है, प्रतिरोध (resistance) ज्यादा है, उसमें रोग प्रकट नहीं होता किन्तु दीर्घकाल तक रहने आदि कारणों से यदि रोग की सामर्थ्य शरीर की सामर्थ्य से बढ़ जायेगी तो अवश्य प्रकट हो जायेगा; इसी प्रकार मन पर देश का, वातावरण का प्रभाव अवश्यंभावी है। इसीलिये प्राचीन काल से साधक लोग हमेशा पवित्र देश में जाते रहे हैं। भगवान् भाष्यकार विविक्त का अभिप्राय बताते हुए लिखते हैं **'अरण्य-नदीपुलिन-देवगृहादिभिर्विविक्तो देशः।'** कोई देश सहज पवित्र है जैसे अरण्य, जंगल, नदीपुलिन—नदी का किनारा। ऋग्वेद के ऋषि भी यही कहते हैं कि ऐसे एकान्त स्थलों में ही मन परमात्मा में सहज भाव से लगता है। **'तं सेवितुं शीलमस्य'** ऐसे देश का सेवन करना जिसका शील—स्वभाव—है, वह हुआ विविक्तदेशसेवी।'यह तो संभव नहीं है कि मनुष्य हमेशा पवित्र देश में ही रहे। परन्तु सहज प्रवृत्ति होनी चाहिये इस प्रकार के स्थान में रहने की। जहाँ पवित्रता सहज न हो, किसी कारण से हो, वहाँ भी विविक्तता है ही; ऐसे स्थलों के लिये उदाहरण दिया देवगृहादि। देवता का मन्दिर आदि मन्त्रादि से पवित्र बना दिया जाता है। पहले लोग जब अपना घर बनाते थे, तो उसमें अवश्य एक पूजाघर बनाया करते थें और उसकी पवित्रता की पूर्ण तरह से रक्षा की जाती थी। एक बार हम सोलन गये हुए थे। वहाँ के राजा दुर्गासिंह जी परमेश्वर की तरफ बड़ी रुझुआन वाले थे। जो उनका अपना पूजागृह था उसकी मरम्मत तक वे स्वयं अपने हाथों से ही करते थे। मिस्त्री बाहर खड़ा रहकर उन्हें बताता जाता था—'ऐसा करिये, ऐसा करिये।' उनसे बातचीत हुई तो उन्होंने बताया 'हर साल इसकी पुताई भी मैं ही करता हूँ।' उनका यही भाव था कि अपवित्र लोगों के आवागमन से पूजास्थल के स्पन्द अपवित्र न हो जायें। चाहे सहज और चाहे मन्त्रादि से जो स्थान पवित्र हो, वहीं रहने का स्वभाव होना भक्तिलाभ का उपाय है। **'तत आत्मादिभावना विविक्त उपजायते'**—आचार्य शंकर कहते हैं कि ऐसे स्थल में ही चित्त शांत होता है और तभी परमात्मा आदि के बारे में मन में भावनाएँ उठती हैं। अपवित्र स्थल में बैठकर मनुष्य केवल बुद्धि से विचार तो कर सकता है परन्तु वहाँ भावना का परिपाक नहीं होता।

देश की तरह जैसे लोगों के मध्य रहा जाये उसका भी प्रभाव पड़ता है। इसलिये कहा **'जनसंसदि अरतिः।'** सामान्य जो लौकिक लोग हैं उनकी

भीड़-भाड़ अरुचिकर होनी चाहिए। **'जनसंसदि'** आदि का यह अर्थ नहीं कि वहाँ लोग होवें ही नहीं। इसलिए आचार्य शंकर स्पष्ट करते हैं—

'जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानाम् अविनीतानां संसत् समवायो जनसंसत्; न संस्कारवतां विनीतानां संसत् तस्या ज्ञानोपकारकत्वात्।'

कैसे लोगों को भगवान् यहाँ जनशब्द से कह रहे हैं? **'प्राकृतानाम्'** जो परमेश्वर के संस्कारों से रहित हैं, केवल इहलोक को — इस संसार को — ही सब कुछ समझने वाले है; **अविनीतानाम्'**ऐसे लोग किसी भी शास्त्रीय नियमों — सिद्धान्तों के अनुसार चलने वाले नहीं होते, उद्दण्ड होतेहैं। चाहे जितनी तुम्हारी शान्त प्रकृति हो, यदि वातावरण में रहने वाले लोग उद्दण्ड प्रकृति के हैं तो तुम में क्रोधादि आयेंगे ही। जहाँ सहज भाव से सब लोग विनय से रहते हैं वहाँ क्रोधी पुरूष में भी शान्ति आने लगती है। कुछ लोगों को कलह—झगड़े—के बिना 'शान्ति' ही नहीं मिलती। ऐसे लोगों के समुदाय के प्रति ज्ञानसाधक की रुचि नहीं होती। उनसे विपरीत जो संस्कार वाले विनीत लोग हैं उनके साथ रहना तो ज्ञान के लिये उपकारी है। स्वयं भगवान् ने परमात्मा में परायण होने का मतलब बताया है—

'मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।'

'बोधयन्तः परस्परम्'—परमात्मा की परायणता में ऐसे लोगों के मध्य रहना जो कभी तुम्हारी वृत्ति बहिर्मुखी होवे—बाहर जाने वाली होवे—तब तुम्हें याद दिलावें कि'अरे इस व्यर्थ के संसार का चिंतन क्यों करते हो ?' ऐसे ही कभी वह चूकेगा तो तुम याद दिलाओगे**'परस्परम्'**। मनुष्य की प्रकृति है कि जिस बात को बार-बार करता है उसके संस्कार उसमें दृढ होते है। परमात्मा के विषय में तुम दूसरे को सुनाओगे तो तुम्हारे अपने संस्कार दृढ़ होते चले जायेंगे। इसीलिये भाष्यकार ने कहा कि जो विनय वाले, परमात्मा के रास्ते पर चलने वाले लोग हैं, उनके साथ रहने में अरुचि नहीं; उनसे भिन्न जो प्राकृत लोग हैं उन्हीं के साथ रहने में अरुचि यहाँ विधित्सित है। अन्यत्र भी शास्त्रों में बताया है **'स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सङ्गस्य भेषजम'** बाकी आसक्तियों को सत्पुरूषों का संग काट देता है।

तीसरा साधन इस भक्ति की दृढ़ता का बतलाते हैं **'अध्यात्मज्ञान-नित्यत्वम्।'** अध्यात्म —आत्मा के विषय में जहाँ शास्त्रों में प्रतिपादन किया है। **'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा'** संसार की सब चीजें विनाशी हैं। एकमात्र परब्रह्म परमात्मा ही अविनाशी है। **'अनुच्छित्तिधर्मा'**— इसका कभी भी उच्छेद होता नहीं। वही अकेला साक्षात्कार करने के योग्य है। जो भी कुछ हमें दीख रहा है वह वस्तुतः परमात्मरूप ही है। इस प्रकार आत्मा को सामने रखकर जो प्रतिपादन किया जाये—अर्थात् वेदान्तवाक्य, उपनिषद् और उसके व्याख्यात्मक ग्रंथ—वह ज्ञानोत्पादक होने से उस प्रतिपादन को—उन ग्रंथादि को अध्यात्मज्ञान कहा। अतः अध्यात्मज्ञान-नियत्व का मतलब है उपनिषदों में जिन चीजों का प्रतिपादन किया गया है उनमें ही हमेशा लगना। वेदान्त परमात्मा का प्रतिपादन बड़े स्पष्ट और स्फुट रूप से करते हैं।

पहले भी संकेत किया था, जहाँ बन्धन है वहीं परमात्मा का साक्षात्कार करना है। कहाँ बन्धन है? स्वयं अपने अन्दर ही बन्धन है। यहीं साक्षात्कार करना है। और कहीं भी साक्षात्कार हुआ तो काम बनेगा नहीं। भगवान् भी परमात्मा का यहीं उपदेश देते हैं **'अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः'** सारे प्राणियों के हृदय में स्थित रहने वाला मैं परमात्मतत्त्व हूँ। जिसमें साधना बतायी उस प्रकृत तेरहवें अध्याय के आरंभ में भी कहा **'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत'** सारे शरीरों में रहने वाला क्षेत्रज्ञ मैं ही हूँ। अन्त में भी कहेंगे **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति'** सारे प्राणियों में हृदयदेश में परमेश्वर रहता है। उस हृदयदेश में, मन में, 'मैं' में ही बन्धन का अनुभव है। जब तक जीवभाव है तब तक बन्धन का अनुभव होगा। जब जीवभाव को छोड़ दोगे, परमेश्वर ही वहाँ अकेला रह जायेगा तब मुक्ति का भाव है।

उपनिषत् कहती है कि परमेश्वर ने इस सृष्टि का विस्तार किया। इस सारे व्याकृत जगत् का विस्तार करने वाला परमेश्वर है। **'स्वयमेव जगद् भूत्वः प्राविशज्जीवरूपतः।'** शास्त्रकार कहते हैं कि सारे जगत् को बनाकर उसी परमात्मा ने इसमें जीवरूप से प्रवेश किया। अतिधन्य वेद कहता है **'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य।'** जीवरूप से उसने प्रवेश किया। इस सारे अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड का उसने विस्तार किया, निर्माण किया, और फिर उसे चखने के लिये उसने जीवरूप से उसमें प्रवेश किया। जीवरूप से वह भोक्ता बन गया। इसे

उपनिषदों ने अतिसृष्टि कहा है। बाकी सब चीजें तो उसने परतन्त्र बनायीं। परन्तु अपना जो पुत्र जीव है उसे अपने जैसा स्वतन्त्र बनाया। मनुष्य भी बाकी सब चीजों को पैदा कर उनका मानिक बना रहता है, पर पुत्र को उत्पन्न कर उसका मालिक नहीं होता। पुत्र स्वतन्त्र है। स्वतन्त्रतापूर्वक ही वह पिता की आज्ञा का पालन करता है और नहीं भी करता अतः मानवी सृष्टि में भी अन्य उत्पादनों से पुत्र-उत्पादन में कुछ विशेषता है। ऐसे ही परमात्मा की जीवसृष्टि में विशेषता है; यह अतिसृष्टि है, क्योंकि जीव को परमात्मा ने अपनी तरह स्वतन्त्रता दी है।

जब प्रवेश हुआ तो यह भी संभव था कि पुनः अपने परमात्मभाव को लौटने का मार्ग भुला दिया जाता, अतः परमेश्वर ने जीव को ऐसी विलक्षण स्थिति वाला बनाया कि यह वापिस जा सके। जीव को ऐसी सामर्थ्य दी कि वह स्वप्न का निर्माण करे, स्वप्न का भोग भोगे। यह संसार कैसा है यह समझने का हमारे पास कोई तरीका ही नहीं होता, यदि स्वप्न का अनुभव न होता। चाहे सारे शास्त्र कहते 'जो चीज हमें दीख रही है वह जैसी हम उसे समझते हैं वैसी नहीं है', फिर भी हमें शंका बनी रहती-'तो हमें दीखती कैसे है?' अतः संसार से निकलने के लिये जीव को परमेश्वर ने स्वप्नावस्था वाला बनाया। स्वप्न में जाने पर इसे ऐसा ही संसार दिखायी देता है, जिससे इसके मन में विचार आता है कि दीखने वाली वस्तु जैसी दीखे, वैसी हो, यह नियम नहीं। अतः जागरित में दीखने वाले संसार की परीक्षा में प्रवृत्त होता है—क्या यह संसार जैसा दीख रहा है वैसा ही है या उससे कुछ अन्य प्रकार का है? स्वप्न में हमारे सिवाय और कोई नहीं है। हूँ वहाँ केवल मैं, दीखते हैं अनेक आदमी, पहाड़, नदियाँ। मैंने ही उन सबका विस्तार कर दिया है। इससे पता लगता है कि यह सारा संसार भी एकमात्र शिव है। उसी ने इसे वैसे ही फैला दिया है जैसे हम सपने में फैलाते हैं। सपने में दीखते हमें पदार्थ हैं जब कि सचमुच वहाँ केवल मैं हूँ, मेरी शक्ति, मेरे संस्कार हैं मेरी शक्ति का ही वहाँ विस्तार है। इसी प्रकार जाग्रत् में हमें जो कुछ दीख रहा है वह केवल शिव की शक्ति का ही विस्तार है। सिवाय शिव के यहाँ भी कुछ नहीं, चाहे दीखते पदार्थ हैं। इस प्रकार दृश्यमिथ्यात्व को परमात्मा ने स्वप्नद्वारा अनुभव में घटा दिया।

दूसरी मान्यता है कि हमसे अतिरिक्त कोई वस्तु ही हमें सुख देती है, बिना विषय के कभी सुख होता नहीं। मान भी लें कि सारा संसार शिवरूप है, सुख

के लिये तो कोई चीज होना जरूरी है। वास्तविकता है कि सृष्टिविस्तार करता है तब या नहीं करता तब, दोनों स्थितियों में शिव ही आनन्दरूप है वही आनन्दघन है। यह कैसे पता लगे? इसके लिये हमें तीसरी अनुभूति की स्थिति दे दी सुषुप्ति—गहरी नींद। वहाँ हमें परम आनन्द का अनुभव होता है। चार दिन गहरी नींद न आये तो आदमी पागल-सा होने लगता है। अतः नींद लाने के लिये दवा, नशा आदि कुछ न कुछ करता है। किसी को कहो 'तुम्हें जो भोग चाहिये वह देंगे, केवल शर्त यह है कि सोने नहीं देंगे', तो कोई तैयार नहीं होगा। इससे पता चलता है कि वहाँ मिलने वाला सुख परम है। प्रश्न होता है कि वहाँ सुख किस चीज का है? वहाँ चीज तो कुछ नहीं है क्योंकि उठ कर सुषुप्ति का अनुभव प्रकट करते हैं तो हर व्यक्ति कहता है 'वहाँ मैंने कुछ नहीं जाना, बड़े सुख से सोया।' 'कुछ नहीं जाना', इसलिये विषय कुछ नहीं था। 'बड़े आनन्द से सोया' इसलिये आनन्द भी था। अतः पता लग जाता है कि सुख के लिये विषय की आवश्यकता नहीं। शिव स्वयं ही सुखरूप है।

यह जो सुषुप्ति में द्वैत का अदर्शन, निर्विषय आनन्द, उसके स्फुट अनुभव के लिये जो चाहिये वही यहाँ 'अपृथक् समाधि' से विवक्षित है। समाधि में भी द्वैतदर्शन नहीं तथा आनन्द है। यही परिस्थिति सुषुप्ति में है। परन्तु दोनों स्थितियों में फर्क है। उदाहरणार्थ किसी दानी व्यक्ति को लो। दानी वही हो सकता है जो दुःख सहन कर सके। जिसमें सहनशीलता नहीं होगी वह कभी भी दानी नहीं हो सकता। दान करने के लिये अपना कोई न कोई भोग छोड़ना पड़ेगा, अपने लिये जो पदार्थ हैं उनमें कहीं न कहीं कमी लानी पड़ेगी। पहले लोगों में सहनशीलता थी इसलिये सामान्य पुरुष भी पूर्णिमा, एकादशी आदि के दिन कुछ न कुछ सीधा निकाल कर देता था। अब दस हजार रुपया महीना कमाने वाला भी कहता है 'जी क्या करूँ? खर्चा पूरा नहीं पड़ता।' क्यों नहीं पूरा पड़ता? चला नहीं जाता इसलिये टेलीफोन चाहिये, गर्मी सहन नहीं होती इसलिये वातानुकूल (एयरकण्डिश्नर) चाहिये। ये सब तो आवश्यकताएँ हैं, ये तो चाहिये ही। इनके खर्च से बचे तब दान हो। और आवश्यकता की सीमा तो है नहीं। आगे भी न जाने कब आवश्यकता आ जाये! एक-एक शल्य आप्रेशन ऐसे होने लगे हैं जिनमें लोग कहते हैं पचास लाख रुपये लग जाते हैं! तो पचास लाख रुपया पास हो तब तक दान किया नहीं जा सकता क्योंकि संभव तो है ही कि वह रोग हो जाये और उस शल्य की आवश्यकता पड़ जाये। जो सहनशील

होगा, सोचेगा कि जब परिस्थिति आयेगी तब देखा जायेगा, सहन कर लिया जायेगा, वही दान में प्रवृत्त हो सकता है। अतः दानी भी सहनशीन होता है। और लोभी भी सहनशील होता है। लोभी व्यक्ति भी सब कष्टों को सहन कर लेता है क्योंकि लोभ के कारण वह खर्च नहीं कर सकता। वनस्पति 'घी'—डालडा—खाने से गला जलता है। लोग कहते हैं 'महाराज! आश्रम में अच्छे घी की पूड़ी खाते हैं तो गला नहीं जलता।' उनसे पूछते हैं 'घर में क्यों नहीं अच्छा घी खाते?' तो जवाब देते हैं 'महँगा बहुत है।' ऐसा नहीं है कि वे अति गरीब हैं, खा नहीं सकते; वे तो लोभवश सहन कर लेते हैं—चलो गला जला तो कोई बात नहीं, सौ रुपया खर्च किये बिना चालीस रुपये में काम चल गया। इस प्रकार दानी व लोभी दोनों सहनशील होते हैं। पर दोनों की सहनशीलता में भेद है। एक सत्त्वगुणी है, दूसरा सत्त्वगुण का विरोधी है। इसी प्रकार समाधि में जो द्वैत का अदर्शन और परमानन्द की प्राप्ति है वह सत्त्वगुण से है जब कि सुषुप्ति में जो है वह तमोगुण से है। यद्यपि स्थूलदृष्टि से दोनों समान लगते हैं तथापि दोनों में बड़ा अन्तर है।

स्वप्न और सुषुप्ति का विचार होगा जाग्रत् में। न तो स्वप्न में तुम्हे जागरित याद रहता है और न सुषुप्ति में तुम्हे स्वप्न या जागरित याद रहता है। तीनों अवस्थाओं का विचार जाग्रत् में ही होता है, हो सकता है। जाग्रत् में विचार कर जो साक्षात् अनुभव करते हो वह तुरीय अनुभव है। समाधि में तो किसी काल में प्रतीति होती है, जब उसे जाग्रत् में निर्णीत कर लेते हो तब तुरीय अवस्था की प्राप्ति होती है। तुरीय वस्तुतः अन्य अवस्थाओं की तरह कोई अवस्था नहीं हैं। अवस्था का मतलब होता है— एक के रहने पर दूसरी चीज न होवे। जैसे कपड़ा घड़ी हुआ है, सिमटा है, तो एक अवस्था है, और फैला हुआ है तब दूसरी अवस्था है। जब फैला है तब सिमटा नहीं, जब सिमटा है तब फैला हुआ नहीं है। इसी प्रकार जाग्रदवस्था स्वप्न—सुषुप्ति नहीं, स्वप्न अवस्था जाग्रत-सुषुप्ति नहीं, सुषुप्तावस्था जग्रत्-स्वप्न नहीं। जब जाग रहे हो तो सपना नहीं देख रहे, जब सपना देख रहे हो तब गहरी नींद नहीं ले रहे। इसलिये तीनों अवस्थाएँ हैं। पर जिस प्रकार कपड़ा चाहे सिमटा है चाहे फैला है, है वह कपड़ा ही, उसका कपड़ापन कहीं जाता नहीं; इसी प्रकार तुरीय तुम्हारा वास्तविक शिवस्वरूप है, वह तीनों कालों में—जाग्रत्काल, स्वप्नकाल, सुषुप्तिकाल तीनों में—एक जैसा है। अभी जीवभाव को सच्चा मानकर बन्धन का अनुभव कर

रहे हो। तुरीय शिवभाव को जान लो तो सर्वथा स्वतन्त्र हो जाओगे। जिस स्वातन्त्र्य को शिव ने जीव में निहित रखा है वह व्यक्त हो जायेगा। जाग्रदादि गौण हो जायेंगे, वास्तविक शिवस्वरूप ही एकमात्र वास्तविक लगेगा। अभी ठीक विपरीत स्थिति है। हमें ये तीनों अवस्थायें सच्ची लगती हैं और शिव बहुत दूर का विषय लगता है-पता नहीं कब उसका साक्षात्कार होगा! पता नहीं वह कहाँ है? कैसा है? तुरीयबोध की स्थिति में यह बिल्कुल बदल जायेगा। तुम्हें निरन्तर शिवदृष्टि बनी रहेगी, जाग्रदादि आते-जाते रहेंगे। भगवान् ने ही अज्ञानी व ज्ञानी की अवस्थाओं को बताया है। कौवा दिन में जगता है। उल्लू रात में जगता हैं उल्लू से सूर्य के बारे में कहो तो बोलता है 'जी आप लोग कहते हैं तो होगा कोई सूरज, हमने तो आज तक देखा नहीं। कौवों से बात-चीत की, उन्हें तो दीखता है पर हम उल्लुओं को नहीं दीखता।' यदि कौवे से कहो, 'रात को अंधोरे में चीजें साफ दीखती हैं।' तो वह कहेगा 'पता नहीं जी! उल्लू लोग ऐसा कहा तो करते हैं।' आचार्यों ने यही उपमा दी है **'काकोलूकनिशेवेयम्'**। इसीलिये भगवान् ने कहा-

'यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।'

जिन जाग्रदादि को सच्चा मानकर सांसारिक लोग व्यवहार करते हैं वे जानकार मुनि को रात के अँधेरे की तरह लगता है। उसे जब कोई कहे 'मैं सुखी-दुःखी हूँ' तो वह सोचता है कि यह सुखी-दुःखी हो कैसे सकता है जब सिवाय शिव के कहीं कुछ और है ही नहीं! उसे वह केवल नाटक करता लगता है। मुनि समझता है कि यह कहकर कि मैं सुखी-दुःखी हूँ, यह मेरी परीक्षा ले रहा है! जब परमेश्वर से भिन्न कहीं कुछ है ही नहीं तो सुख-दुःख हो कैसे सकता है? दूसरी ओर संसारी लोगों का अनुभव है—परमेश्वर को कोई बड़े साधक पा लेते होंगे, याज्ञवल्क्य आदि ने देख लिया होगा, हम लोगों को तो समझ नहीं आता कैसे क्या होगा? केवल वही हो यह कैसे हो सकता है जब इतनी बड़ी दुनिया दीख रही है। दोनों की—मुनि और संसारी की-स्थिति बाहर से देखो तो एक—सी लगती है। जैसे मान लो तालाब में एक तैराक तैर रहा है और एक तैराकी न जानने वाला डूब रहा है। डूबने वाला भी पानी में ऊपर-नीचे जाता है और तैरने वाला भी कभी पानी में भीतर जाता है कभी बाहर आता है। दूर से देखने वाला सोचता है कि दोनों तैर रहे हैं। एक बार एक चार साल का बच्चा बहुत लोगों को गंगाजी में नहाते देख बिना समझे पानी में उतर गया। अन्दर गया

तो हाथ-पैर मारने लगा। कुछ हमारे साथ महात्मा थे, बच्चों का अनुभव कहाँ होना हुआ ! वे कहने लगे 'देखिये महाराज ! यह छोटा-सा बच्चा कैसा तैर रहा है !' हमारी नजर पड़ी तो हमने कहा 'अरे ! पकड़कर बाहर निकालो, वह तो डूब रहा है।' महात्मा तैराक था, झट से उसे निकाल लाया। अतः बाहर से चाहे दीखे तैर रहा है, रहा है वह डूब। ठीक इसी प्रकार इस जाग्रदादि संसार में मुनि भी व्यवहार करता है पर सर्वथा स्वतन्त्र होकर। जो यह नहीं जानता कि सब कुछ परमात्मरूप है वह इसमें डूबता है।

एक देश था अलखपुर। वहाँ के राजा को सत्संग का शौक था। एक बार एक परमहंस संन्यासी महात्मा वहाँ पहुँचे और राजा के यहाँ चातुर्मास्य उन्होंने किया। जब जाने लगे तो उन्होंने सोचा इस राजा को कोई चीज देनी चाहिए, इसने बहुत सेवा की है। उन्होंने राजा से कहा 'कल रात बारह बजे एकान्त में अकेले मेरे पास आना, तुम्हें कोई चीज दूँगा।' राजा ने कहा 'ठीक है।' अगली रात को राजा ने अपने नाई को मशाल लेकर चलने के लिए साथ लिया और महात्मा के पास चल दिया। राजा तो महात्मा की कुटिया के भीतर चला गया, नाई बाहर खड़ा हो गया। महात्मा ने राजा को परकाय-प्रवेश की विद्या सिखा दी। किसी मुर्दे में कैसे प्रवेश किया जा सकता है यह विद्या उसे सिखा दी। यह भी बता दिया कि जिस शरीर को छोड़कर जाओ उसे बचाकर रखना जरूरी होता है। राजा ने सारी बात समझ ली।

नाई भी बहुत चतुर हुआ करता है **'नराणां नापितो धूर्तः।'** उसने सोचा, अवश्य कोई रहस्यविद्या राजा को महात्मा देंगे, अतः वह भी कान लगाकर सुनता रहा था, विद्या वह भी सीख गया। दोनों लौट आये। कुछ समय बीता।

रानी के पास एक सफेद कौवा था। उस पर रानी को बहुत स्नेह था। कौवे की आयु पूर्ण हुई। वह मर गया। अकस्मात् मरा अतः रानी दुःखी हुई, कहने लगी 'यह मुझसे कुछ बात ही कर जाता तो यह कष्ट सह्य हो जाता, यह तो यों ही चला गया।' वह राजा से बोली 'तुम कहते हो मैं मरे को जिला सकता हूँ। इसे जिलाकर दिखाओ।' राजा ने समझाया भी पर स्त्री का तो हठ होता है, जिद्द पकड़ ली तो पकड़ ली। राजा ने सोचा चलो इतना कहती है तो दो मिनट को इसे जिला दूँ। उसने अपनी विद्या से कौवे के शरीर में प्रवेश कर लिया। वह नाई तो प्रायः हमेशा राजा के पास रहता ही था क्योंकि राजा को किसी भी काम के लिए जरूरत पड़ती ही है। राजा को कौवे के शरीर में गया

देख नाइ ने सोचा 'मुझ पर तो भगवान् की परम कृपा हो गयी।' परकायप्रवेश की विद्या तो वह जानता था ही, उसने झट से राजा के शरीर में प्रवेश कर लिया। राजा ने जब यह देखा तो स्तम्भित हो गया और सोचा 'अब यह जरूर मुझे मार डालेगा।' अतः कौवारूप राजा तुरन्त वहाँ से उड़ गया।

काफी समय जंगलों में भटकता कष्ट पाता रहा। धीरे-धीरे कौवों के साथ रहते-रहते अपने आप को सर्वथा कौवा ही समझने लगा। दीर्घकाल के बाद एक बार वह उसी महात्मा के पास हिमालय में पहुँचा जिन्होंने उसे वह अलौकिक विद्या दी थी। उन्होंने उसे देखते ही पहचान लिया। वे पशुभाषा में उससे बोले, 'अरे राजन् ! यह रूप लेकर क्या आये?' वह राजा बोला, 'जी हम कौवों का राजा दूसरा है, मैं नहीं।' महात्मा ने कहा 'कौवों का नहीं तू तो अलखपुर का राजा है !' कौवा बोला, 'अलखपुर का राजा? मुझे नहीं पता कहाँ है अलखपुर और कौन है राजा। मुझे कुछ नहीं मालूम।' महात्मा पहचान तो गये ही थे, कहने लगे 'अरे ! जरा याद कर। जोर लगा दिमाग पर।' वह बोला, 'जी मैं कहाँ अशुचिभक्षण करने वाला कौवा ! और कहाँ शुद्ध आहार करने वाला राजा !

महात्मा समझ गये—यह निरन्तर अपने कौवे स्वरूप में रहते हुए अपने सच्चे स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। उन्होंने धीरे धीरे उसके अपने ही राजस्वरूप का वर्णन उसे सुनाना शुरू किया। रोज उसे चुग्गा भी देते रहे कि वह कहीं अन्यत्र चला न जाये। स्मृति का यह नियम है कि यदि धीरे-धीरे किसी चीज को बार-बार दुहराओ तो वह फिर याद आ जाती है। महात्मा ने पुर का, राज्य का, रानियों का वर्णन किया। कौवे के शरीर में स्थित राजा का ध्यान उन बातों में एकाग्र होने लगा। सुनने में रुचि होने लगी। एकाग्र चित्त के कारण उसे स्मृति आ गयी 'अरे ! वही मेरा सच्चा स्वरूप है।' उसे खेद और विस्मय हुआ 'कहा मैं कौवा बन गया ! क्या मेरी स्थिति हो गयी ! क्या यह संभव है कि मैं पुनः राजा बन जाऊँ?' एक दिन रोकर महात्मा से कहने लगा 'आपने स्मृति तो दिला दी, परन्तु यदि उस भाव को प्राप्त न करूँ तब तो मेरे लिये यह एक महान् कष्ट हो गया। अब उसे पाने का उपाय भी बताइये।' महात्मा ने ढाढस बँधाया, 'उसका भी उपाय होगा।'

वे उस कौवे को लेकर अलखपुर गये। कौवे को तो उन्होंने छिपाकर रख दिया। शहर के बाहर ही एक मन्दिर में ठहर गये। बहुत लोग आने लगे। अनेक

लोगों की कामनाएँ पूर्ण होने से उनकी ख्याति राजमहल पहुँची। सुनकर रानी भी दर्शन करने आयी। उसे देख महात्मा ने कहा, 'पूर्व जन्म में तू दैवी शक्ति वाली थी। पर किसी दोष से तुम्हारी वह शक्ति दूर हो गयी। इसीलिए तुम्हारा दिव्य अलौकिक सौन्दर्य छिप गया है। मैं तुम्हें यदि तीन दिन का एक अनुष्ठान कराऊँ तो तुम्हारा वह सामर्थ्य और सौन्दर्य प्रकट हो जायेगा।' स्त्रियों को सुन्दरता का शौक ज्यादा होता ही है। उसने राजा से सारी बात कही। राजा ने भी सोचा—मेरी पत्नी है—भोग्या है, इसमें दिव्य सौन्दर्य होगा तो अच्छा ही है। राजा ने स्वयं जाकर महात्मा से कहा 'आप अनुष्ठान करना चाहते हैं तो बहुत उत्तम बात है।' महात्मा ने अनुष्ठान के लिए सत्रह पण्डित और एक बकरे की आवश्यकता बता दी। बकरे की बलि देनी आवश्यक थी। राजा ने सारी व्यवस्था कर दी।

तीन दिन तक अनुष्ठान चला। अन्त में जब बकरे को मन्त्रों द्वारा बलि देने के लिए तैयार कर दिया गया तभी महात्मा ने अपनी शक्ति से उसे मरा हुआ कर दिया। फिर वे कहने लगे 'अरे ! यह तो बड़ा अनिष्ट हो गया। यह तो बलि से पूर्व ही मर गया। अब तो देवताओं का बड़ा कोप होगा। तुम्हारा राज्यभंग भी हो जायेगा, छत्रभंग भी हो जायेगा। यह रानी भी मर जायेगी। क्या बतावें? दो मिनट की बात थी। बलि हो गयी होती तो अनुष्ठान पूरा हो गया होता। अगर दो मिनट को यह जी जाये तो काम बन जाये।' था तो वह आखिर नाई ही, चाहे शरीर राजा का था। उसने विचार किया कि यदि इतना बड़ा अनिष्ट होने की सम्भावना है तो इसे दो मिनट को जिला दूँ। वह बोला, 'मैं देखता हूँ कुछ हो सकता है कि नहीं।' जैसे ही नाई-राजा ने परकायप्रवेश-विद्या से बकरे में प्रवेश किया वैसे ही महात्मा ने कौवा-राजा को इशारा किया—'यही मौका है, बना ले तू अपना काम।' उसने तुरन्त अपने पूर्व शरीर में प्रवेश कर लिया। अब नाई बकरा हो गया और राजा पुनः राजा हो गया। बकरे का कान काट कर जेल में उसे बन्द कर दिया।

इसे केवल किसी एक राजाकी कहानी मत समझना। अलखपुर—अलक्ष्यपुर—जिसे कोई देख नहीं सकता, मन वाणी का विषय नहीं। ऐसे अलखपुर का राजा जीवरूप से प्रवेश कर संसार में आया और तादात्म्याध्यास से इसे ही—कौवे के शरीर को ही—अपना स्वरूप समझने लग जाता है। वेदरूप

संन्यासी उसे कहता है, 'यह तुम्हारा सच्चा स्वरूप नहीं। तुम्हारा सच्चा स्वरूप तो शिव है।' पहले तो इसे समझ नहीं आता। धीरे धीरे जब शिवस्वरूप का बारम्बार श्रवण करता है तो पाता है 'ये लक्षण मुझ में भी घट तो रहे हैं।' अन्ततोगत्वा इसे निश्चय होता है मुझे परमात्मा का साक्षात्कार अवश्य करना है। साक्षात्कार के लिए प्रवृत्त होता है-**'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।'** उस शिव का दर्शन होने पर इसका कल्याण हो जाता है।

इस प्रकार इन बीस सोपानों द्वारा भगवान् ने तत्त्वज्ञान के दर्शनपर्यन्त पहुँचने के साधन बताये। इन साधनों का अभ्यास करते हुए आप लोग आगे बढ़ें। अमानित्त्व पहला साधन बताया था, तत्त्वज्ञानार्थदर्शन—मोक्षविषयक आलोचन—यह अंतिम साधन है। इन साधनों से आप उन्हें प्राप्त करें यही भगवान् से प्रार्थना है। इस जीवन में ही आप इस लक्ष्य को प्राप्त करें।